अध्याय 2

कृष्णा सोबती और इंदिरा गोस्वामी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व

2.1- कृष्णा सोबती: जीवन एवं व्यक्तित्व

2.2- कृष्णा सोबती: संपूर्ण कृतित्व

2.3- इंदिरा गोस्वामी: जीवन एवं व्यक्तित्व

2.4- इंदिरा गोस्वामी: संपूर्ण कृतित्व

कृष्णा सोबती और इंदिरा गोस्वामी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व

2.1- कृष्णा सोबती: जीवन एवं व्यक्तित्व

भारतीय साहित्य पटल पर ज्ञानपीठ तथा साहित्य अकादमी विभूषित, संयमित किन्तु सशक्त लेखनी तथा भाषा की गहराइयों की समझ रखने वाली किस्सागो कृष्णा सोबती का जन्म 18 फरवरी 1925 को वर्तमान पाकिस्तान के एक कस्बे में हुआ था। अपने जन्म वर्ष के विषय में बात करते हुए बड़े ही मसखरे अंदाज में एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था, "पिछली सदी के एन पच्चीसवें साल में जन्म लेने का निर्णय तो भला मेरा कहाँ रहा होगा। वैसे मुझे अपना जन्म समय निर्धारण करने की छूट होती तो मैं सन 2025 में पैदा होती और इस सदी की ग्लोबल दुनिया को जी भर कर जीती। "[1] पिता दीवान पृथ्वीराज सोबती औपनिवेशिक शासन के दौरान सरकारी महकमे में अच्छे पद पर कार्यरत थे। उनके समय-समय पर होने वाले तबादलों की वजह से कृष्णा सोबती की शिक्षा-दीक्षा विभिन्न शहरों में हुई यथा दिल्ली, लाहौर तथा शिमला। बचपन से ही उन्होंने पिता से 'फूलवालों की सैर', 'गुलिस्ताँ बोस्ता', आनंदमठ, 'दुर्गादास राठौर', 'बंदा बिरागी' इत्यादि कहानियाँ सुनी थीं, जिससे बहुत कम उम्र से ही उनका किताबों से गहरा लगाव हो गया था। "हमारी पसंद को मोड़ देने वाली थीं रात के खाने के बाद वाली बैठकें, जिसमें हमें एक से एक किताब पढ़ कर सुनाई जातीं। यही हमारा साहित्य से पहला परिचय था। वह गहरा था और खरा था। "[2] माता श्रीमती दुर्गा देवी के संबंध में कृष्णा सोबती का कहना था, "मेरी माँ अगर मेरी बेटी होती तो मेरे समय से बहुत आगे होती। "[3] तात्पर्य यह है कि घर में ही मदरसे के मौलवी, गुरुद्वारे के ग्रंथी तथा आर्यसमाज के पंडित जी से शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने वाली श्रीमती दुर्गा देवी कुशल गृहणी होने के साथ ही आत्मनिर्भर तथा जागरूक महिला भी थीं। कृष्णा सोबती की माँ अच्छी घुड़सवार भी मानी जाती थीं। माँ की समय-समय पर दी गई सीखों तथा नसीहतों को कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यास 'ऐ लड़की' में एक साथ लिपिबद्ध किया।

देश-विभाजन से पूर्व कृष्णा सोबती लाहौर के फतेहचंद विद्यालय में अध्ययनरत थीं। विभाजन के समय उन्हें लाहौर छोड़ कर दिल्ली आना पड़ा। उन्होंने सिरोही के महाराजा तेज सिंह की गवर्नेस के रूप में 1950 तक कार्य किया। इसके पश्चात् कृष्णा सोबती ने दिल्ली के आर्मी स्कूल में अध्यापन का कार्य किया। दिल्ली प्रशासन के प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के संपादक के रूप में 1950 से 1952 तक कार्य किया। साहित्य सेवा के प्रति पूर्णतः समर्पित होने के लिए कृष्णा सोबती ने 1980 में नौकरी से इस्तीफा दे दिया। 1982 में वे भोपाल के निराला सृजन पीठ की आवासीय लेखिका रहीं। भारत-विभाजन पर आधारित प्रसिद्ध धारावाहिक 'बुनियाद' के लिए कृष्णा सोबती ने परामर्शदात्री का भी कार्य किया।

कृष्णा सोबती ने पचहत्तर वर्ष की आयु में डोगरी भाषा के लेखक तथा सिविल सर्वेंट शिवनाथ जी से विवाह किया। डोगरी तथा हिंदी की प्रसिद्द रचनाकार पद्मा सचदेव के अनुसार किसी साहित्यिक कार्यक्रम में कृष्णा सोबती तथा शिवनाथ जी की मुलाक़ात हुई थी। इस विवाह के संबंध में कृष्णा सोबती की पहली स्मृति सभा में राजेंद्र कौल द्वारा दिया गया यह वक्तव्य महत्वपूर्ण है- "एक दिन कृष्णा जी का फ़ोन आया। आप अमुक समय आ सकते हैं? पूछा, जरूर, कोई खास बात? मानो पचहत्तर बरस की कृष्णा जी एक छोटी सी लड़की की तरह लजा गई हों- बोलीं, लीजिए आप इनसे बात कीजिए। शिवनाथ जी ने सीधे कहा, अपनी परिचित कोमल आवाज में- हम लोग शादी कर रहे हैं..."[4]। पुस्तक प्रेमी राजेंद्र कौल का परिचय सोबती जी ने 'हम हशमत- 4' में दिया है। प्रो. श्यामाचरण दूबे और डॉ. लीला दूबे के फ्लैट पर मैरिज रजिस्ट्रार की उपस्थिति में 24 नवंबर 2000 में कृष्णा सोबती तथा शिवनाथ जी का विवाह संपन्न हुआ। परंतु विवाह का सर्टिफिकेट 16 जनवरी 2004 को लिया गया। इस संबंध के विषय में कृष्णा जी का कहना था, "साहचर्य में उम्र का क्या सवाल? एक-दूसरे की उपस्थिति की ऊष्मा। लेकिन आपस में किसी के काम या रूटीन में कोई हस्तक्षेप नहीं। सलाह-मशविरा, हाँ लेकिन कोई जबरदस्ती नहीं किसी पर। "[5] कृष्णा सोबती तथा शिवनाथ के इस अनूठे संबंध का सिलसिलेवार ब्यौरा उनके आत्मकथात्मक उपन्यास

'समय सरगम' से भी प्राप्त किया जा सकता है। शिवनाथ जी ने 'डार से बिछुड़ी' तथा 'मित्रो मरजानी' के कुछ पृष्ठों का भी अनुवाद किया था जो मैक्समुलर भवन, दिल्ली से प्रकाशित पुस्तिका 'लिविंग लिट्रेचर' में छपा था। कृष्णा सोबती के उपन्यास 'समय सरगम' तथा शिवनाथ जी के संस्मरण 'जम्मुआईट' में उनके साहचर्य का मिलता-जुलता वर्णन प्रस्तुत है। आलोचक निर्मला जैन तथा कवियित्री सुकृता पॉल इत्यादि ने कृष्णा सोबती को 'इनटेन्सली प्राईवेट पर्सन' कहा है। अपने स्वयं के व्यक्तित्व के विषय में कृष्णा सोबती लिखती हैं, "दूसरों की निगाह से अपने को देखती हूँ तो एक मगरूर घमंडी औरत, चमक-दमक वाला लिबास और अपने को दूसरों से अलग समझने वाला अंदाज। अपनी नजर से अपने को जांचती हूँ तो एक सीधी-सादी खुद्दार शख्शियत। वक्त और खुदा दोनों ही जिस पर ज्यादा मेहरबान नहीं- फिर भी अपने जिगरे की ओर से जिंदादिल। "[6] कृष्णा सोबती का पहनावा भी अपने-आप में विशिष्ट था। दीगर बात यह है कि उनकी पोशाक कुर्ते और गरारे के लिए उन्हें हमेशा अलग नजरों से देखा जाता था। इसका जिक्र उन्होंने अपने आत्मकथात्मक उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' में भी किया है। कृष्णा सोबती ने बेहद रचनात्मक ढंग से अपने पहनावे के विषय में बात करते हुए इसे अपने लेखन से भी जोड़ा है। फुटकर कपड़ों के गुच्छे की तुलना 'मीडियोकर' चीज से करने वाली कृष्णा सोबती अलमारी में ठूंस कर रखे गए कपड़ों और बेवजह के शब्दों से भरे हुए लेखन को तराजू की दोनों बाँटों पर एक सा ही तौलती थीं। "सस्ता या मंहगा कबाड़ उठाते ही चले जाना, एक शब्द की जगह दस इस्तेमाल करना, एक 'इमेज' की जगह विपरीत रंगों की भीड़ लगा कर पाठकों को भुलावे-छलावे में डाल देना-न सिर्फ कम अच्छा लेखन है- वह लेखन है ही नहीं। "[7]

गिरधर राठी लिखते हैं, "कम ही लेखक होंगे जिनके जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा इस तरह मुकद्दमों, बहसों, विवादों और अपनी ही रचनाओं का सही संदेश और अर्थ दिलाने में बीता हो। "[8] गिरधर राठी ने इस कथन के साथ ही उन सारे विवादों और अदालती कारवाहियों का जिक्र किया है जो कृष्णा सोबती के लेखकीय जीवन की शुरुआत से ही उनसे जुड़ गई थीं। इन विवादों में उनके पहले

उपन्यास 'चन्ना' को छपने के बाद प्रकाशन से वापस ले लेना, 'जिंदगीनामा' उपन्यास के शीर्षक कॉपीराइट को लेकर पंजाब की शीर्षस्थ साहित्यकार अमृता प्रीतम से 26 साल तक चली कानूनी लड़ाई के अतिरिक्त उनके चर्चित उपन्यास 'मित्रो मरजानी' से जुड़ा विवाद भी शामिल है। भैरवप्रसाद गुप्त के संपादन में धारा प्रकाशन द्वारा कृष्णा सोबती की पूर्व अनुमति के बिना 'मित्रो मरजानी' को अपने एक कहानी संग्रह 'मित्रो तथा अन्य कहानियां' में छाप दिया गया था। जिससे 'मित्रो मरजानी' का पहला अंश छापने वाली पत्रिका 'सारिका' ने आगे के अंशों को छापने से मना कर दिया। 'सारिका' के संपादक का कहना था कि चूँकि पूरी कहानी एक साथ ही अन्य पत्रिका द्वारा प्रकाशित की जा चुकी है, इसलिए वह 'मित्रो मरजानी' के आगे के अंश प्रकाशित नहीं कर सकते। इस संबंध में कृष्णा सोबती ने 'धारा' प्रकाशन के भैरवप्रसाद गुप्त को एक नोटिस भी भेजा था। ये सभी प्रसंग ऐसे हैं जिनसे इंगित होता है कि कृष्णा सोबती प्रकाशन को अपनी शर्तों पर कराने की दृढ़ निश्चयी थीं। इन विवादों के अतिरिक्त 'हम हशमत' में समकालीन साहित्यकारों के रचना कर्म एवं जीवन प्रसंगों को बेहद खरे और नुकीले ढंग से रेखांकित करना, अलग-अलग विवादों का मूल बना। कमलेश्वर और रवीन्द्र कालिया पर कृष्णा सोबती द्वारा लिखे संस्मरणों से उनके बीच कभी न भरने वाली खाई बन गई। परंतु इस संबंध में कृष्णा सोबती का कहना था, "दोस्तों, लेखकों के झगड़े, न झगड़े होते हैं, और न दोस्तियाँ, दोस्तियाँ और न दुश्मनी, दुश्मनी!! सब कुछ कह लेने पर फिर वही कहानी- कविता और उपन्यास! कभी बाजार में भाव गिरे-कभी चढ़े!"[9] कृष्णा सोबती, 'तद्भव' पत्रिका(1994) में रवीन्द्र कालिया द्वारा स्वयं पर लिखे गए संस्मरण 'हमारी कृष्णा जी' से बेहद आहत हुई थीं। कृष्णा जी का कहना था इस संस्मरण में रवीन्द्र कालिया ने काफी कुछ ऐसा लिखा था जो सत्य और तथ्य से परे था। कृष्णा सोबती ने इस संस्मरण का प्रतिवाद 'हम हशमत' में रवीन्द्र कालिया पर संस्मरण लिख कर किया था और स्पष्ट किया था कि संस्मरण विधा की क्या मर्यादा होती है। "संस्मरण देवकीनंदन खत्री का फिक्शन नहीं। ना ही वह कविता है, न कहानी, न आख्यान, श्रीमान। संस्मरण है एक-दूसरे समकालीन

को समझने का प्रतिमान।"[10] रवीन्द्र कालिया के संपादन में 'नया ज्ञानोदय' के 'बेवफाई सुपर' विशेषांक में विभूतिनारायण राय के एक वक्तव्य में महिला लेखकों के लिए 'छिनाल' शब्द का प्रयोग करने पर कृष्णा सोबती ने जनसत्ता(13 मार्च 2011) में एक आलेख द्वारा इसका विरोध किया था। कन्नड़ के विद्वान कलबुर्गी और मराठी के विद्वान पनसारे की हत्या और बढ़ते सांप्रदायिक माहौल के विरोध में एक प्रतिरोध सभा का आयोजन किया गया था। अस्वस्थ होने के कारण इस आयोजन में भाग लेने के लिए कृष्णा सोबती व्हील चेयर पर पंहुची थीं। कृष्णा सोबती ने इस प्रतिरोध के फलस्वरूप अपना साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा संस्थान की रत्न सदस्यता को लौटा दिया था। कृष्णा सोबती के प्रतिरोध का मूल कारण यह था कि साहित्य अकादमी पुरस्कृत कन्नड़ लेखक कलबुर्गी की स्मृति में शोक सभा करने की अनुमति भी साहित्य अकादमी द्वारा नहीं दी गई थी।

कृष्णा सोबती ने पुस्तक-प्रकाशन का बाकायदा प्रशिक्षण भी लिया था। यूनेस्को के तहत दिल्ली प्रशासन के संपादकीय पद पर रहते हुए रंगून में पुस्तक-प्रकाशन पर हुई वर्कशॉप में भागेदारी से प्राप्त ज्ञान को वह समय-समय पर अपडेट भी करती रहती थीं। गिरिधर राठी लिखते हैं, "कृष्णा जी पुस्तक के प्रकाशन में एक-एक बात पर ध्यान देती थीं: आवरण का चित्र या चित्रांकन, अक्षरों का आकार-प्रकार, रंग-योजना, पुस्तक का आकार, भीतर की सामग्री का टाइप, उसका प्रकार और आकार, जिल्दसाजी...शायद अज्ञेय के बाद हिंदी की वही एक वरिष्ठ लेखक थीं जो पुस्तक के सौंदर्यशास्त्र को इतनी गंभीरता से लेती थीं। "[11] इसके अतिरिक्त मंच पर किस तरह की भाषा, कैसी शैली, कैसा प्रवाह और ठहराव हो, इसके लिए कृष्णा सोबती ने शंकर मार्केट के शिल्पी चक्र में सुप्रसिद्ध नाट्य निर्देशक शीला भाटिया से बाकायदा ट्रेनिंग ली थी।

कृष्णा सोबती के व्यक्तित्व की विशेषताओं, जीवन के उतार- चढ़ाव लेखन और साहित्य के प्रति उनकी समझ और सुझावों को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है।

लेखक के रूप में स्वतंत्र पहचान:

कृष्णा सोबती के जीवन का अधिकांश समय देश की राजधानी दिल्ली में बीता था। दिल्ली से जुड़ी स्मृतियों तथा संस्मरणों का निचोड़ उनके संस्मरण 'मार्फ़त दिल्ली' से प्राप्त किया जा सकता है। भगवती चरण वर्मा के संपादन में 'विचार' पत्रिका में प्रकाशित 'लामा' कृष्णा सोबती की पहली कहानी थी। कृष्णा सोबती के अनुसार एक नए लेखक की कहानी होने के बावजूद कहानी के मूलरूप में ही प्रकाशित होने से उनके आत्मविश्वास को बल मिला। कृष्णा सोबती की बहुचर्चित कहानी 'सिक्का बदल गया' अज्ञेय के संपादन में 'प्रतीक' में प्रकाशित हुई थी। कृष्णा सोबती ने अपने साक्षात्कारों में इस बात का जिक्र किया है कि लेखक बनने की प्रेरणा उन्हें अज्ञेय से ही मिली थी। "दोस्तों, चौंकिएगा नहीं अगर हम आपसे कहें कि एक शाम अपने घर पर अज्ञेय को देख कर हमने यह ठान लिया कि लेखक जरूर बन कर रहेंगे। "[12] कृष्णा सोबती कॉलेज के दिनों में कविताएं भी लिखती रही थीं, परंतु कालांतर उन्होंने महसूस किया कि कविता उनका क्षेत्र नहीं है। वे कहती हैं " कविता में अंतर्निहित जो 'इन्टेन्सिटी' कवि की उड़ान की पहली शर्त है उसे तीव्र मार्मिक रूप से अर्जित कर सकना मेरे ठंडे सपाट मिजाज में मौजूद नहीं रहा। व्यक्तित्व का निजीपन जो गहरे तक अंतरंग में पसरा रहा, उसमें से कविता की दोहरी अंतरंगता को झेल पाना मेरे निकट लगभग मुश्किल ही रहा। इसलिए इसका छोटा-सा मौसम अनजाने ही गुजर भी गया। "[13] लेखन के साथ देह और आत्मा का जुड़ाव कहने वाली कृष्णा सोबती के शब्दों में, "मेरा व्यक्तित्व और मेरा लेखन कभी अलग नहीं हुए, न श्रेणियों में और न खानों में। वे साथ रहते हैं और एक समग्र इकाई की तरह काम करते हैं। जीना और लिखना मेरे लिए देह और आत्मा की तरह सहजीवी रहे हैं- एक-दूसरे के साथ, एक-दूसरे के भीतर। "[14]

लेखकीय दायित्वों के प्रति सजग:

कृष्णा सोबती के व्यक्तित्व के कई रंग हैं। 'हशमत' उपनाम से अपने समकालीनों के जीवन प्रसंगों को उद्घाटित करने वाली कृष्णा सोबती पर काफी कुछ लिखा और पढ़ा गया है। उनके व्यक्तित्व की बड़ी विशेषता थी कि उन्होंने लेखक शब्द को मात्र एक पद के रूप में न लेते हुए इस शब्द से जुड़ी गरिमा को दिल से महसूस किया। "मैं लेखक होने के नाते साहित्य और साहित्यकार की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान और खुले उन्मुक्त संस्कार की सुरक्षा चाहती हूँ। रचनात्मक प्रतिभा, अस्मिता और गरिमा जैसे मूल्यवान शब्दों का अवमूल्यन नहीं होना चाहिए। लेखक के बुनियादी और नैतिक अधिकारों का हनन न हो। "[15] कृष्णा सोबती संपूर्ण लेखकीय संस्कृति की प्रतिष्ठा बचाए रखने के लिए सदैव प्रयासरत रहीं। 'हम हशमत' में उन्होंने संस्मरणों के बहाने, लेखक समाज की गरिमा को ठेस पँहुचाने वाले क्रिया-कलापों का जिक्र किया है। वरिष्ठ कविगण नेमिचंद्र जैन और त्रिलोचन के सम्मान में भारतीय भाषा परिषद द्वारा आयोजित समारोह में मंच पर लेखकों को नकदी के लिफाफे बाँटना उन्हें नागवार गुजरा था। कृष्णा सोबती लिखती हैं, "सम्मानित हुए कवियों की अवज्ञा सी लग रही थी। हमने लिफाफा (फेंका नहीं) मेज पर रख दिया और आयोजकों को संबोधित कर इस रीति-रस्म का विरोध किया जो लेखक-समाज के सांस्कृतिक शिष्टाचार को फीका करता दिखता था। "[16] लेखक की पहचान से अलग अपनी किसी दूसरी पहचान को अस्वीकार करने वाली कृष्णा सोबती मानती थीं कि लेखकीय स्वतंत्रता, प्रत्येक लेखक का बुनियादी अधिकार है। किसी भी लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं को राजनैतिक हस्तक्षेप तथा सत्ता की शक्ति से दूर रखे। कृष्णा सोबती का मानना था कि राजनैतिक जगत और सत्ता के साथ गठजोड़ कर कोई भी लेखक अपने रचनात्मक कौशल के साथ अन्याय करता है। यह जरूरी है कि वह स्वयं को इन अहातों से बाहर रखे। लेखकीय बिरादरी को संबोधित करते हुए वह लिखती हैं कि, "दोस्तों, मुझे कहने दीजिए कि बीच का रास्ता नहीं है। नहीं होना चाहिए। आप लक्ष्मण रेखा के अंदर हैं या बाहर। असल मुद्दा अंदर और बाहर वाले इलाके का है। आप

अंदर सुरक्षित हैं। बाहर नहीं हैं। आप अंदर विशेष हैं और बाहर लावारिस हैं। बस इतना ही। "[17] एक लेखक की हैसियत से कृष्णा सोबती ने ऐसे पुरस्कारों और सम्मानों को लेने से इंकार किया, जिनको ग्रहण करना, दमनकारी सत्ता का पक्ष लेने के समान था। कृष्णा सोबती ने महसूस किया कि सामान्य नागरिक से अलग लेखक की यदि विशिष्ट पहचान होती है तो उसके सामाजिक और राजनैतिक दायित्व भी विशिष्ट होते हैं। इन दायित्वों का निर्वहन करना ही उसे लेखक बने रहने की कसौटी पर खरा उतारता है।

नारी स्वतंत्रता की पक्षधर किंतु नारीवाद को अस्वीकृति:

कृष्णा सोबती अपने समय की काफी बोल्ड लेखिका मानी जाती हैं। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि अपनी रचनाओं में उन्होंने जिन महिला पात्रों का जिक्र किया है वह समाज में तो थीं पर साहित्य में उनकी कोई जगह नहीं थी। कालजयी उपन्यास 'मित्रो मरजानी' की समित्रा रानी भी ऐसी ही महिला है जो किसी भी संयुक्त परिवार का हिस्सा हो सकती है, पर साहित्य में उसका जिक्र एक तरह से वर्जित था, जबकि कृष्णा सोबती का कहना है- "आज इस लघु उपन्यास को लगभग एक क्लासिक का दर्जा मिल चुका है। मंच पर भी 'मित्रो मरजानी' को भारी सफलता मिली और वे पंक्तियाँ जिन्हें 'बोल्ड' करार दिया गया था, दर्शकों को यह संदेश पहुँचा गई कि एक बहू द्वारा अपनी यौन-इच्छा को व्यक्त करना अब कोई 'टैबू' नहीं रहा गया।"[18] उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा ऐसी महिलाओं का चित्रण किया, जो समाज के आदर्श परिवारों का हिस्सा सदियों से थीं परन्तु परम्पराओं की मोटी-मोटी पर्तों के बीच दबी हुई थीं तथा जिनकी कोई हैसियत नहीं थी। 'मित्रो मरजानी' से लेकर 'दिलोदानिश' तक कृष्णा सोबती ने जितनी भी महिलाओं का जिक्र किया है उनके मुँह में जबान भी है और कमर में रीढ़ की हड्डी भी। मित्रो मरजानी को तो हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श का प्रस्थान बिंदु माना जाता है। 1966 में लिखे गए इस उपन्यास ने साहित्यिक जगत में एक खलबली मचा दी थी जिसमें एक शादीशुदा महिला समित्रा रानी उर्फ़ मित्रो की कामुकता तथा अपने पति सरदार सिंह के साथ शारीरिक असंतोष का जिक्र किया गया

था। आज के समय में भले यौन जीवन के बारे में लिखना आम हो परन्तु साठ के दशक में एक महिला के बारे में एक महिला साहित्यकार का इस प्रकार का लिखना अपने आप में बेहद साहसिक कदम था। उनके द्वारा रचे गए पात्र यथार्थ के काफी निकट होते हैं। अपने कथा शिल्प के माध्यम से उन्होंने लगभग हर वर्ग की स्त्री के मनोभावों को यथार्थ के धरातल पर उकेरा है। एक तरफ "दिलोदानिश" की 'कुटुंब प्यारी' है जो अपने पति को सौतन महक बानो के हाथों से बाहर लाने की जिद में एक अन्य पुरुष के साथ दैहिक सम्बन्ध बना लेती है तो दूसरी तरफ इसी उपन्यास की एक अन्य नायिका 'छुन्ना' विधवा होने के बावजूद आर्य समाजी 'भुवन' के साथ पुनर्विवाह कर समाज में महिलाओं के लिए बने मानकों को अपने हिसाब से चुनौती देती नजर आती है। एक तरफ "मित्रो मरजानी" की 'मित्रो' अपनी दैहिक आवश्यकताओं की मांग में कोई संकोच नहीं करती तो दूसरी तरफ इसी उपन्यास की एक अन्य पात्र 'सुहागवंती' के आगे परिवार और पति से बड़ा कुछ भी नहीं है। "सूरजमुखी अँधेरे के" की रत्ती बचपन में ही बलात्कार का शिकार होती है और जीवन भर के लिए अवसाद से भर जाती है। "डार से बिछुड़ी" की पाशो पितृसतात्मक समाज के हाथों बस खिलौना सा बन जाती है और पूरे उपन्यास में बेघर ही नजर आती है। 'समय सरगम' की अरण्या वृद्धावस्था में भी अपना जीवन पूरे अधिकार से जीती दिखाई पड़ती है। कृष्णा सोबती की लेखनी से रचे हुए ऐसे ही अनेक किरदार हैं जो समाज के लगभग हर वर्ग और हर उम्र की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करते नजर आते हैं। कृष्णा सोबती को स्त्री मन की गाँठों को खोलने वाली कथाकार कहा जाता है, परन्तु उन्होंने महिला लेखक के रूप में स्वयं को टैग किये जाने का विरोध किया बिल्कुल वैसे ही जैसे अज्ञेय खुद को प्रयोगवादी नहीं मानते। निर्मला जैन ने अपनी पुस्तक 'कथा और समय का सच' में 'उत्तर शती के उपन्यास महिला कथाकारों के संदर्भ में' नामक आलेख में इस बात का जिक्र किया है कि राजेंद्र यादव द्वारा कृष्णा सोबती को महिला रचनाकार की हैसियत से आकाशवाणी की बातचीत में बुलाने पर कृष्णा जी को ऐतराज था। स्वयं निर्मला जैन भी किसी स्त्री को दिए जाने वाले महिला रचनाकार के विशेषण से संतुष्ट नहीं हैं, "लेखक होना

तय कर वह अपने महिला होने के वैशिष्ट्य का अतिक्रमण करती हैं क्योंकि लेखक सिर्फ लेखक होता है। कम से कम कृष्णा सोबती जैसी लेखिकाओं के बारे में यह तर्क और भी वजनी मालूम होता है। "[19] 'लेखक का जनतंत्र' में संकलित एक साक्षात्कार में मीनाक्षी तिवारी के प्रश्न- आज जब स्त्री मुद्दों पर बात होती है तब उसे स्त्री विमर्श का नाम दिया जाता है. इस स्त्री विमर्श पर क्या कहेंगी? का उत्तर उन्होंने कुछ इस प्रकार दिया "ये जो शब्द है ये भी एक खास किस्म की इंटेलेक्चुअल धोखाधड़ी है। इस तरह की बातों से आप एक तरह से उन्हें गलत रास्ते पर जाने के लिए लगातार प्रोत्साहित कर रहे हैं कि तुम्हारी सुरक्षा का प्रश्न है तो इतना तो चलेगा और इसके साथ हमारी नैतिकता भी चलेगी। आप किसे कह रहे हैं नैतिकता!"[20]

कृष्णा सोबती के विभिन्न वक्तव्यों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह हाशिए के विमर्शों के लेखकों को पूर्वाग्रहों से ग्रस्त मानती थीं। मसलन उनका यह कहना, "दलित लेखक की तरह स्त्री भी अपने अनुभव में सीमित और विशेष प्रकार के स्त्री संवेदन से ग्रस्त हैं। "[21] यह दर्शाता है कि हाशिए के विमर्शों का वैचारिक धरातल सीमित और संकुचित होता है। कृष्णा सोबती अपनी पहचान को केवल एक लेखक के रूप में देखे जाने की सदैव पक्षधर रहीं परंतु स्त्री होने पर गर्व भी महसूस किया। "मुझे स्त्री होने का गर्व है! मैंने मात्र इसकी संज्ञा को ही धारण नहीं किया- इच्छाशक्ति, आत्मविश्वास और परिश्रम में अपने को एक सेहतमंद व्यक्ति के रूप में भी संवारा है। उस स्पेस में जिया है जो आमतौर पर पुरुष के हिस्से में आता है।"[22] गिरिधर राठी, कृष्णा सोबती के नारीवाद को महादेवी वर्मा की नारीवादी परंपरा का विस्तार मानते हैं। निर्मला जैन ने कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी तथा उषा प्रियंवदा के लिए लिखा है कि इन तीनों ने ही महिला लेखन की सीमा का अतिक्रमण किया है। कवयित्री गगन गिल का कहना है कि भारतीय परिदृश्य पर स्त्रीविमर्श का क्या स्वरूप होना चाहिए ये तो कृष्णा सोबती ने आज से पचास साल पहले ही बता दिया था।

हिंदी साहित्य में भाषाई विविधता की पक्षधर:

कृष्णा सोबती के रचना संसार में भाषा का महत्व सर्वाधिक है। लेखन के शुरूआती दौर से ही वरिष्ठ साहित्यकारों, प्रकाशकों द्वारा इस संबंध में आपत्ति भी उठाई गई, परंतु कृष्णा सोबती ने अपनी रचनाओं में भाषा को लेकर कोई समझौता नहीं किया। उनका पहला उपन्यास 'चन्ना' भाषाई समझौते को न कहने के कारण ही प्रकाशक से वापस ले लिया गया और अंतिम उपन्यास के रूप में 2019 में प्रकाशित हुआ। कृष्णा सोबती लिखती हैं, "एक- से मुखड़े और तेवर वाली भाषा में सोचना और लिखना मुझे उबाऊ लगता है। लेखक होने के नाते भाषा के रचनात्मक केंद्र में होने के बावजूद उसे ही अपना अतिक्रमण भी करना होता है। अपने को परे सरकाकर पात्रों के अनुरूप भाषा और मुहावरे को ढालना मात्र प्रयोग नहीं, लेखक के सामर्थ्य का अहसास भी देता है।"[23] कृष्णा सोबती के उपन्यास 'जिंदगीनामा' की भाषा पर विभिन्न साहित्यकारों द्वारा ऊँगली उठाई गई थी परंतु कृष्णा सोबती का कहना था, "जिंदगीनामा की भाषा को लेकर कुछ लोगों को परेशानी हुई है। इतना ही कहना चाहूंगी कि देश के किसी भी क्षेत्र विशेष या कालखंड की बोली में घुलमिल गए संस्कृत, पाली, उर्दू, अपभ्रंश, ब्रज, अरबी, फ़ारसी के शब्दों के लिए इतनी उपेक्षा क्यों? खड़ी बोली में उनका अनुवाद करना दरकार न था।"[24] कृष्णा सोबती का मानना था कि किसी लोक विशेष के संवादों को प्रस्तुत करने के लिए उस क्षेत्र विशेष के भाषाई ध्वनि-संस्कार को पन्नों पर उकेरना आवश्यक होता है। हिंदी भाषा की विशेषता इसी में है कि वह विभिन्न लोक भाषाओं को गूँथ कर बनी हुई है। राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक है कि हिंदी को न ही मात्र अभिजात्य और एलीट वर्ग की भाषा समझा जाए न ही किसी प्रदेश विशेष या धर्म-वर्ग की भाषा समझा जाए। यह रूढ़िगत मानसिकता का प्रतीक है कि भाषाई शुद्धता के नाम पर हिंदी को उसकी बोलियों से दूर रखने का पक्ष लिया जाता है। "हिंदी का प्रबुद्ध वर्ग होने के अभिमानी तेवर और ठस्से से क्षेत्रीय भाषाओं को आँचलिक करार दे उन्हें हिकारत से न देखिए। उन्हें भावात्मक रूप से हिंदी से जुड़ने दीजिए और राष्ट्रीय एकता के लिए उसका विस्तार कीजिए।"[25] उपन्यास

'जिंदगीनामा' से जुड़ा रोचक तथ्य है कि उपन्यास के प्रकाशन के बाद जब कृष्णा सोबती की भेंट साहित्यकार अमृतलाल नागर जी से हुई तो नागर जी ने यह सुझाव दिया कि यदि उपन्यास की भाषा में सिर्फ पंजाबी शब्दों का इस्तेमाल किया जाता तो यह पाठकों के लिए भी सुविधाजनक रहता और भाषाई अशुद्धता भी कम रहती। इस पर कृष्णा सोबती का उत्तर था, "नागर जी, यह न समझिए कि 'जिंदगीनामा' की भाषा के बचाव में कह रही हूँ लेकिन आप देखिएगा, अगले दस-पंद्रह वर्षों में हमारी बोलियाँ ही हिंदी को समृद्ध करेंगी, और आप कोई ऐतराज न कर सकेंगे। "[26] कृष्णा सोबती यह मानती थीं कि हिंदी साहित्य में 'जातिवाद' की राजनीति का ही परिणाम है कि बड़े चिन्तक और आलोचक हिंदी की बोलियों को साहित्यिक भाषा से दूर रखना चाहते हैं पर अब समय आ गया है कि लोकभाषाएँ और बोलियाँ, हिंदी साहित्य को उसके संकुचित घेरे से बाहर निकालें। आलोचकों द्वारा कृष्णा सोबती के उपन्यास 'यारों के यार' में गालियों के भरपूर प्रयोग से साहित्य में शील और अश्लील शब्दों के बीच एक लंबी बहस छिड़ गई थी। कृष्णा सोबती का कहना था कि 'यारों के यार' जैसा उपन्यास जो सरकारी दफ्तर की हलचलों को समेटता है, के लिए गालियों का प्रयोग करना, 'सामाजिक दबाव' के तहत आता है। "गालियाँ" समाज के विद्रूप और विसंगतियों को ही प्रकट करती हैं। गालियों की अपनी सत्ता है।"[27] कृष्णा सोबती का मानना कि एक अच्छे लेखक के लिए यह आवश्यक है कि भाषा से उसका संबंध मात्र सतही न हो। पात्र विशेष के अनुरूप भाषा को ढालना लेखक की काबिलियत को दर्शाता है। किसी भी भाषा के प्रत्येक शब्द को जीवित आत्मा की संज्ञा देने वाली कृष्णा सोबती ने हिंदी कथा साहित्य की भाषा को अपनी रचनाओं से समृद्ध करने के साथ ही उसका एक तरोताजा रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। पत्रकार तथा लेखक ओम थानवी लिखते हैं कि, "कृष्णा सोबती में भाषा की रंगत और चरित्रों को रचने, उन्हें खड़ा करने की महारत अहम थी। पंजाब से आने वाले अनेक हिंदी लेखकों ने जहाँ अपनी कथावस्तु में देश-दिसावर और चरित्रों के मामले में दूर निकल आने के साथ हिंदी

के साधु-रूप को साधने की सफल-विफल कोशिशें कीं, कृष्णा जी अपने देशज, अनगढ़, सादे और खुरदुरे मगर मुहावरे में एक जिद की तरह अडिग रहीं।"[28]

कृष्णा सोबती विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित की जा चुकी हैं, जिनमें साहित्य अकादमी (1980), साहित्य कला परिषद् पुरस्कार, कथा चूरामणि पुरस्कार तथा व्यास पुरस्कार इत्यादि प्रमुख हैं। उन्हें साहित्य अकादमी का फेलो 1996 में बनाया गया जो अकादमी का सर्वोच्च सम्मान है। साहित्य के क्षेत्र में दिए जाने वाले देश के सर्वोच्च सम्मान ज्ञानपीठ से उन्हें 2017 में नवाजा गया। कृष्णा सोबती राजनैतिक तथा सामाजिक मुद्दों पर अपने बेबाक वक्तव्य देने के लिए भी जानी जाती हैं। उनकी कुछ कविताओं में सत्ता, सामंतशाही और नौकरशाही के विरुद्ध उनकी नाराजगी साफ तौर पर देखी जा सकती है। नीचे उद्धृत उनकी कविता की यह पंक्तियाँ उनके भीतर उमड़ते उन सवालों को बयाँ करती हैं जो शायद हर जागरूक नागरिक के जेहन में उठता होगा,

"तर्ज़ बदलिए...

गुमशुदाघोड़े पर सवार

हमारी सरकारें

नागरिकों की तानाशाही से

लामबंदी क्यूं करती हैं

और दौलतमंदों की

सलामबंदी क्यूं करती हैं

सरकारें क्यूं भूल जाती हैं

कि हमारा राष्ट्र एक लोकतंत्र है

और यहां का नागरिक

गुलाम दास नहीं

वो लोकतांत्रिक राष्ट्र

भारत महादेश का

स्वाभिमानी नागरिक है

सियासत की यह

तर्ज़ बदलिए...”[29]

2010 में कृष्णा सोबती ने बेहद अदब से सरकार द्वारा दिए जाने वाले सम्मान पद्म विभूषण को लेने से मना कर दिया था। ‘द इंडियन एक्सप्रेस’ को दिए गए साक्षात्कार में जब उनसे इस बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा- ‘मैं बहुत साधारण और छोटी लेखिका हूं और मेरा मानना है कि जो बुद्धिजीवी हैं, जो सोचने की ताकत रखते हैं, अगर वो अपने मुल्क की जनता और यहां की हकीकत को देख सकते हैं, उसे ठीक से पढ़ सकते हैं, उसे बढ़ा-चढ़ा कर पेश नहीं करते... तो उनका ये फर्ज है कि वो इस्टैबलिशमेंट से दूर रहें...’।[30] देश में बढ़ती असहिष्णुता के चलते उन्होंने अपना साहित्य अकादमी फ़ेलो सम्मान भी 2015 में वापस लौटा दिया था।

स्त्री मन के भीतर की गहराइयों में झांकने के अतिरिक्त उन्होंने अपनी रचनाओं में देश समाज और संस्कृति के विविध रंगों का भी चित्रण बखूबी किया है। विभाजन पूर्व के पंजाब की आंचलिक पृष्ठभूमि पर लिखे गए उपन्यास ‘जिंदगीनामा’ के केंद्र में कोई व्यक्ति विशेष नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज है। इसमें स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़े संघर्षों का भी चित्रण किया गया है। विभाजन की त्रासदी और विभीषिका उन्होंने अपनी आँखों से देखी थी और विभाजन का दर्द तो उन्होंने खुद भी झेला था। कहानी ‘सिक्का बदल गया’ की वृद्धा नायिका ‘शाहनी’ की प्रेरणा उन्हें अपनी नानी से मिली थी जिन्हें विभाजन के समय अपनी पुश्तैनी हवेली को छोड़ कर शरणार्थी शिविर में जाना पड़ा था। ‘सिक्का बदल गया’ से लेकर ‘गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान’ तक विभाजन के अनुभवों को साझा करते हुए उन्होंने स्त्री देह और स्त्री मन पर हुए अत्याचारों का चित्रण किया है। लेखन के अतिरिक्त वह राजनीतिक मुद्दों पर भी बेहद सक्रिय थीं। नामवर सिंह ने कृष्णा सोबती के उपन्यास ‘डार से बिछुड़ी’ और ‘मित्रो मरजानी’ का उल्लेख मात्र किया है और सोबती को उन

उपन्यासकारों की पंक्तियों में गिनाया है जिनकी रचनाओं में कहीं वैयक्तिक तो कहीं पारिवारिक सामाजिक विषमताओं का प्रखर विरोध मिलता है।

कृष्णा सोबती जीवन पर्यंत लेखन कार्य में व्यस्त रहीं। मृत्यु से ग्यारह दिन पहले ही जनवरी 2019 में उनका अंतिम उपन्यास 'चन्ना' प्रकाशित हुआ था। शिवशंकरी जी से एक साक्षात्कार के दौरान भविष्य की योजनाएं साझा करते हुए उन्होंने कहा था, "मेरी मेज पर तीन अधूरे काम पड़े हैं जो मुझे लगातार चेताते रहते हैं कि सावधान समय बीत रहा है। 'गुजरात से गुजरात तक' एक उपन्यासिका है जो गुजरात में हुई हिंसा से निकला; एक उपन्यासिका 'पॉवर ऑफ़ अटॉर्नी' है जो देश में फैले प्रॉपर्टी डीलरों के रैकेट पर केन्द्रित है। तीसरी किताब में दिल्ली के रेस्तराओं और उनके बहाने 1950 से 70 तक के साहित्यिक परिदृश्य का जायजा लिया गया है।"[31] उनके इस कथन के मुताबिक 'गुजरात से गुजरात तक' उपन्यास के रूप में तथा 1950 से 70 तक के दिल्ली के साहित्यिक परिदृश्य को पिरोता संस्मरण 'मार्फ़त दिल्ली' भी प्रकाशित हुआ। 'पॉवर ऑफ़ अटॉर्नी' उपन्यासिका के रूप में प्रकाशित नहीं हो पाया। इसका संक्षिप्त रूप हमें 'शब्दों के आलोक में' प्राप्त होता है।

25 जनवरी 2019 को लंबी बीमारी के बाद कृष्णा सोबती ने अंतिम श्वासें लीं। गिरधर राठी लिखते हैं, "25 जनवरी! दिल्ली के माहौल में यह ऐसा दिन था जब कृष्णा सोबती को अस्पताल से निकाल कर, घर ले जाकर वहाँ परिवार एवं मित्रों के साथ यमुना किनारे निगम बोध घाट ले जाना संभव था। गैस से चलने वाले शवदाह गृह में उन्हें अग्निपेटिका को सौंप दिया गया। शाम 4 बजे। अगर गणतंत्र दिवस, 26 जनवरी वाला दिन होता, तो सड़क पर निकलना तक असंभव हो गया होता। बरबस कई लोगों के मुँह से निकला-ऐसा दिन चुना कि कोई उनकी वजह से बेवजह परेशान न हो!"[32]

वरिष्ठ लेखक, आलोचक ओम थानवी कृष्णा सोबती को याद करते हुए लिखते हैं, "वे स्वाभिमानी थीं। जिद्दी थीं। पर साहित्य में उनका होना अपनी बुलंदगी थी। उनकी ठसक जीते जी बनी रही। दलीलों के साथ सही, उनकी रचनाओं के साथ आगे भी बनी रहेगी। "[33]

कृष्णा सोबती की याद में राजकमल प्रकाशन समूह द्वारा 'हम हशमत की याद में' (स्मृति सभा) का आयोजन मंडी हाउस स्थित त्रिवेणी कला संगम में किया गया था जिसमें वरिष्ठ साहित्यकारों तथा बुद्धिजीवियों द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित की गई-

कवि और आलोचक अशोक वाजपेयी ने कृष्णा सोबती को श्रद्धांजलि देते हुए कहा, "कृष्णा सोबती ने एक लेखिका का जीवन बड़े दमखम के साथ जिया। उन्होंने कभी किसी से न तो कोई सिफारिश की और न ही किसी को कोई रियायत दी। हमारे बीच अगर ऐसा कोई लेखक हुआ, जिसे अपने लेखन पर अभिमान भी था, स्वभिमान भी था और आत्मसमान भी था तो वह केवल कृष्णा सोबती थीं।"

शाजी जमां ने कहा, "कृष्णा सोबती में औरों की खूबिओं को ढूंढ़ने का बड़प्पन था, और यह वह खूबी है जो आज के समाज में वक्त के साथ कम से कमतर होती जा रही है। "

लेखिका गीतांजलिश्री ने कहा, "आते दिनों में हम समझेंगे और समझते रहेंगे कि हमने किन्हें खो दिया है। उनका कहा, उनका लिखा हमेशा रहेगा। "

वरिष्ठ लेखक गिरिराज किशोर ने उनके साथ अपने अनुभवों को साझा करते हुए कहा, "कृष्णा सोबती ने असल इंसानियत का दायित्व पूरी तरह निभाया। वे बहुत ही परफेक्टनिस्ट थीं। किसी भी चीज को वह हमेशा बेहतर से बेहतर करना चाहती थीं। "

2.2- कृष्णा सोबती: संपूर्ण कृतित्व

उपन्यास: डार से बिछुरी 1958; मित्रो मरजानी 1964; यारों के यार/ तिन पहाड़ 1968; सूरजमुखी अँधेरे के 1972; जिंदगीनामा 1979; ऐ लड़की, 1991; दिलोदानिश, 1993; समय सरगम 2000; गुजरात पकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान 2017; चन्ना 2019

संस्मरण: हम हशमत 1, 1958**;** सोबती एक सोहबत, 1989**;** हम हशमत 2, 1999**;** शब्दों के आलोक में, 2005**;** सोबती-वैद संवाद, 2007**;** हम हशमत 3, 2012; मार्फ़त दिल्ली, 2018, हम हशमत 4, 2019

कहानी संग्रह: बादलों के घेरे 1980

यात्रा संस्मरण: बुद्ध का कमंडल- लद्दाख, 2012

साक्षात्कार: लेखक का जनतंत्र, 2018

चलचित्र आख्यान: जैनी मेहरबान सिंह, 2007

अन्य: मुक्तिबोध: एक व्यक्तित्व सही की तलाश में, 2017

कृष्णा सोबती ने पचास के दशक से लेखन कार्य आरम्भ किया और उनकी पहली कहानी "लामा" 1950 में प्रकाशित हुई। कृष्णा जी ने सबसे ज्यादा उपन्यासों की रचना की है। सोबती जी के रचनाकर्म का संक्षिप्त विवरण निम्नवत है-

डार से बिछुड़ी: (1958)

प्रकाशनक्रम के अनुसार यह कृष्णा सोबती का पहला उपन्यास है जो विशेष कृति के रूप में इलाहाबाद से निकलने वाली पत्रिका 'निकष' में प्रकाशित हुआ था। 'डार से बिछुड़ी' 'पाशो' की कहानी है जिसका किशोरावस्था में घर की देहरी से निकाला गया एक कदम उसे अपनों से, नात-रिश्तेदारों से कदम दर कदम दूर करता चला जाता है। पूरे उपन्यास में घर से बिछुड़ी पाशो की

खुशियों, विडम्बनाओं का चित्रण सहज भाषा-शैली में किया गया है जिस सहज भाषा-शैली के लिए उन्होंने कभी भी कोई समझौता नहीं किया। इस उपन्यास का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य है, सिक्ख और अंग्रेज सेनाओं के बीच 1849 में हुआ अंतिम युद्ध! सिक्ख और अंग्रेजों के बीच हुई चिलियांवाली, गुजरात की निर्णायक लड़ाई में 21 फरवरी 1849 में अंग्रेजों ने पंजाब को अंतिम रूप से जीत लिया था। पाशो इस युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से तो शामिल नहीं थी परन्तु बँटवारे के दौरान की लड़ाइयों का स्त्रियों पर पड़ने वाले प्रभाव को पाशो के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इस उपन्यास के माध्यम से संवेदना से शून्य उस समाज की झलक मिलती है जहाँ स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व की कोई कल्पना तक नहीं की जा सकती। और यही वजह है कि पाशो उस समय की अपनी पंजाबी धरती और संस्कृति का प्रतीक बन जाती है। 'डार से बिछुड़ी' के सबंध में कृष्णा सोबती लिखती हैं कि, "डार से बिछुड़ी के प्रकाशन के साथ ही मेरी रचनाओं पर नजर रखी जाने लगी। लेखक के लिए इससे बड़ा पुरस्कार भला क्या हो सकता था!"[34]

मित्रो मरजानी: (1964)

अपने प्रकाशन के साथ ही इस उपन्यास ने हिंदी साहित्यिक जगत में एक खलबली सी मचा दी थी, क्योंकि इसके प्रकाशन के साथ ही हिंदी साहित्य की दुनिया में पदार्पण हुआ था समित्रारानी उर्फ़ मित्रो का! मित्रो, एक शादीशुदा महिला जो अपने वैवाहिक जीवन में शारीरिक रूप से संतुष्ट न होने की बात को एक संयुक्त परिवार के आँगन में डंके की चोट पर बोलती है। विश्वनाथ त्रिपाठी अपनी पुस्तक 'कुछ कहानियाँ: कुछ विचार' पुस्तक में लिखते हैं कि, "हिंदी में उस जैसी स्त्री का प्रवेश पहली बार हुआ। कृष्णा सोबती ने ऐसे भरपूर पात्र को केंद्र में रखकर यह कहानी लिखी, यह नई बात है। इसके लिए बहुत साहस, निर्ममता और ममता की जरूरत पड़ी होगी।" पंजाब के ग्रामीण परिवेश के संयुक्त परिवार में घटित होने वाले झगड़े, फसाद, प्यार-मोहब्बत, रोना-हँसना इत्यादि के सहज चित्रण में कृष्णा सोबती ने 'मित्रो' के चरित्र को अपनी लेखनी से ऐसा उकेरा है कि साहित्यिक, गैर साहित्यिक दोनों वर्गों के पाठकगण उन पर फ़िदा हो जाते हैं ऐसा इसलिए नहीं कि

वह 'मित्रो' जैसे पात्र को गढ़ने के साथ ही हिंदी लेखन के वर्जित प्रदेश में प्रवेश कर रहीं थीं बल्कि ऐसा इसलिए था कि वह ऐसे पात्रों के गढ़न के साथ एक स्त्री के हर रूप को स्वाभाविकता के धरातल पर प्रस्तुत कर रहीं थीं।

यारों के यार: (1968)

'यारों का यार' उपन्यास के माध्यम से कृष्णा सोबती ने सरकारी दफ्तरों की भ्रष्टाचारी व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। दिल्ली शहर का एक सरकारी दफ्तर, उसकी आबोहवा और वहाँ काम करने वाले लोगों की रग-रग का हाल। पूरे दफ्तर में फैले हंसी ठहाकों, एक दूसरे को दिए जाने वाले तानों, बॉस की चापलूसी के लिए अपनाए जाने वाले नए-नए और कुछ बेहद गिरे हुए हथकंडों को कृष्णा सोबती ने कम से कम शब्दों का प्रयोग करते हुए सँजो कर रखा है। इस कृति में भी उनकी भाषा अपने रचनात्मक शिखर पर है। कृष्णा जी की इस कृति को पढ़ कर यह बात पुख्ता हो जाती है कि उनका कम लिखना दरअसल विशिष्ट लिखना है। कृष्णा सोबती के लेखन को हिंदी साहित्य का साहसी लेखन भी माना जाता है। उपन्यास 'यारों के यार' की भाषा में प्रयुक्त गालियों के लिए उनके लेखन की काफी आलोचना की गई थी। इस संबंध में कृष्णा सोबती का कहना था, "स्थानीय दफ्तरी माहौल जिस मर्दाना वाचन की शाब्दिक ध्वनियों से उभरता है उससे पाठ की मर्यादा लेखक क्यों भंग करे। बोलियों और किसी हद तक भाषा में भी गालियों की अपनी सामाजिक हैसियत है। इन्हें परेशान करने में लेखक को क्यों परेशान होना चाहिए। क्रोध, घृणा, बेबसी, एकरसता, विक्षोभ प्रकट करने के लिए ही ये गालियाँ ईजाद की गई हैं। "[35]

तीन पहाड़: (1968)

कृष्णा सोबती की अन्य रचनाओं की तुलना में 'तीन पहाड़' अपेक्षाकृत अधिक भावुकता के धरातल पर लिखी गई है जिसमें त्रिकोण प्रेम के प्रतीक रूप में तीन पहाड़ शब्द का प्रयोग किया गया है। तीन पहाड़ के कथानक के मुख्य में 'जया' उन सभी महिलाओं का प्रतिनिधित्व करती है

जो प्रेम जैसी विशिष्ट अनुभूति को किसी व्यक्ति विशेष से ही जोड़ कर देख पाती है और जिनके लिए प्रेम में ठुकराया जाना, उनके सम्मान को चोट पँहुचाने के बराबर होता है। यही वजह रहती है कि उपन्यास के एक पुरुष पात्र 'श्री' के बेहद करीब रहने के बावजूद 'श्री' द्वारा 'एडना' को जीवनसाथी के रूप में चुन लेने पर वह इसे सहज रूप में नहीं ले पाती। एक अन्य पुरुष पात्र 'तपन' का अपनी तरफ आकर्षण महसूस करके भी वह 'तपन' के प्रति समर्पित नहीं हो पाती और इसी ऊहापोहमें कथानक के अंत में आत्महत्या कर लेती है। यही इस उपन्यास का ऐसा तथ्य भी है जो सोबती की स्वाभाविक लेखन शैली से कुछ भिन्न दिखाई पड़ता है। गिरिधर राठी लिखते हैं, " 'तीन पहाड़' में नदी में छलांग लगाने वाली घटना सोबती जी की रचनाओं में एक तरह का अपवाद है।"[36]

सूरजमुखी अँधेरे के: (1972)

'सूरजमुखी अँधेरे के' उपन्यास के मूल में बचपन में बलात्कार का शिकार हुई 'रत्ती'(रतिका) के जीवन का उतार-चढ़ाव है। बचपन में घटी यह घटना उसके जीवन के प्रत्येक मोड़ पर धुंधलके से निकल कर स्पष्ट होने लगती है। एक मानसिक दबाव जिसे वह हर क्षण महसूस करती है, उससे जूझती रहती है। उपन्यास के संदर्भ में कृष्णा सोबती लिखती हैं कि, "उपन्यास का घनत्व न नकार से उपजा है, न इंकार से, न आत्मपीड़न से, न आत्मकरुणा से। वह बना है वंचित हो जाने की उस सपाट तटस्थता से जहाँ जिंदगी में ट्रेजडी हो जाने का नाटकीय बोध तक नहीं है।"[37] रतिका अपने जीवन में आने वाले पुरुषों से कभी भी सहज नहीं हो पाती। ऐसी ही मनोदशा में उसके जीवन में दिवाकर का प्रवेश होता है, जिसके साथ वह अपने अस्तित्व के विषय में फिर से सकारात्मक रूप से सोचने लगती है। कथानक के अंत में अपनी पूरी आत्मनिर्भरता का परिचय देते हुए वह दिवाकर के विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। आज के समय में बाल यौन शोषण के बारे में आए दिनों हम पढ़ते रहते हैं परन्तु सत्तर के दशक में इस पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखना और इसके भुक्तभोगी को 'रत्ती' के माध्यम से दर्शा कर इसे एक सकारात्मक अंत तक पंहुचाना अपने आप

में एक नया तथा सुलझा हुआ प्रयास था। 'सूरजमुखी अँधेरे के' के कथानक को बुनने के लिए आवश्यक शब्दों के चयन के विषय में कृष्णा सोबती लिखती हैं, "सूरजमुखी के हलके, गहरे और पर्तों दर पर्तों में लिपटे शब्द शुरू से लेकर आखिर तक मेरे लिए अचरज बने रहे। लगभग हर पंक्ति जीवित मुखड़े की तरह पास आ खड़े होती। शब्द मितव्ययी की मुद्रा में अपने को समेटे संजोए पूरी कहानी को पर्त दर पर्त उठाते चले गए। कलम में घुलते चले गए।"[38]

जिंदगीनामा: (1979)

'जिंदगीनामा' उपन्यास कृष्णा सोबती की कालजयी रचनाओं में से एक है। इसके लिए कृष्णा सोबती को 1980 के 'साहित्य अकादमी' तथा 1981 में पंजाब सरकार के 'साहित्य शिरोमणि' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 'जिन्दगीनामा' 19वें दशक में अविभाजित पंजाब के समाज और संस्कृति का चित्र है। 391 पृष्ठों में लिखा गया यह उनका सबसे लंबा उपन्यास है जिसके केंद्र में पंजाब की संस्कृति तथा उस क्षेत्र का रहन सहन है। 'जिंदगीनामा' एक ऐसा उपन्यास है जिसमें न कोई नायक है, न कोई खलनायक अगर कोई है तो वह है लोगों के दिल में बसी पंजाबी संस्कृति, एक जिंदादिल वातावरण जो अपने आप में पूरे उपन्यास का नायक बन के उभर जाता है। 'जिंदगीनामा' कथ्य और शिल्प का नया प्रतिमान खड़ा करता है। 'जिंदगीनामा' के पन्नों पर हमें हर हैसियत के इन्सान राजा, रंक, फ़कीर सभी खेतों की मुंडेरों पर खड़े मिलेंगे। "जिंदगीनामा" की शुरुआत निम्नांकित पंक्तियों से होती है जो उपन्यास का पूरा चिटठा खोल सा देती हैं-

"इतिहास/ जो नहीं है/ और इतिहास/ जो है/ वह नहीं/ जो हुकूमतों की/ तख्तगाहों में/ प्रमाणों और सबूतों/ के साथ/ ऐतिहासिक खातों में दर्ज कर/ सुरक्षित कर दिया जाता है'/ बल्कि वह/ जो लोकमानस की/ भागीरथी के साथ साथ/ बहता है/ पनपता और फैलता है और जन सामान्य के/ सांस्कृतिक पुख्तापन में/ जिन्दा रहता है!"[39]

निर्मला जैन 'जिंदगीनामा' के विषय में लिखती हैं, "कृष्णा सोबती का जिंदगीनामा ऐसी ही कालजयी रचना है जिसने उपन्यास के पारंपरिक ढाँचे को चुनौती दी है। मानवीय संबंधों में अंतर्निहित अंतर्विरोधों का गंभीर विश्लेषण जिस विराट फलक पर किया गया है वह स्वाधीनता-पूर्व अखंड पंजाब की संस्कृति-कथा का सतही दस्तावेज प्रस्तुत नहीं करता। उसमें आद्यंत दिखाई पड़ने वाला सरोकार मानवीय नियति के संबंध में कहीं अधिक गहरा और बुनियादी सरोकार है।"[40]

ए लड़की: (1991)

'ए लड़की' अपने अन्दर उपन्यास की गहराइयों को समेटते हुए एक लम्बी कहानी है जो संवादात्मक शैली में लिखी गयी है हालांकि इसे लंबी कहानी तथा उपन्यासिका दोनों विधाओं में रखा जा सकता है। इस कहानी के मूल में मृत्यु शय्या पर पड़ी वृद्धा अम्मू का अपनी बेटी चित्रा से गंभीर बातों को भी सरल और हंसमुख तरीके से समझाने का संवाद और उसकी अपराजेय जिजीविषा है। यह उपन्यास माँ और बेटी अर्थात दो पीढ़ियों के बीच का संवाद है। कृष्णा सोबती का कहना था कि 'ए लड़की' को नाटक विधा में रचना ज्यादा उपयुक्त रहता। "जब मैंने इसे लिखना चाहा तो लगा कि क्योंकि वहाँ नाटक था, ऐसा नाटक जो नाटक नहीं था और था भी, तो क्यों न इसे नाटक में ही लिखूं। पर बाद में यह सोचकर कि मुझमें शायद इस बात की क्षमता नहीं है इसे नाटक में समेटने की, मैंने इसे कहानी के रूप में उतार लिया। यह मान कर कि मैं अपनी चीज को अपनी सीमाओं के कारण क्यों बिगाड़ूँ। "[41] 'ए लड़की' की अम्मू एक अनुभवसिद्ध माँ है। अम्मू बीमार हैं और मरणासन्न स्थिति में परिवार तथा समाज में स्त्री की महत्वपूर्ण और अनिवार्य भूमिकाओं जिन्हें अम्मू ने खुद भी जिया है, को अपने अनुभवों से गुंथी कहानियों के माध्यम से बेटी को सुना रही है। माँ-बेटी के बीच का यह संवाद बेहद गहन है। इन गहन संवादों का निचोड़ स्त्री की अपनी पहचान में छिपा हुआ है। कृष्णा सोबती इस विषय में लिखती हैं, "स्त्री न मात्र बेटी है, न पत्नी, न सिर्फ माँ। वह इन सब से गुंथा एक व्यक्तित्व है जो उसके गुण और उपयोगिता से,

उसके वैयक्तिक मूल्यों से परे उसके निज के आत्मधर्म से गुंथा है और उसकी काया के नीचे छिपा है। "[42]

दिलोदानिश: (1993)

'दिलोदानिश' में दिल्ली की पुरातन सामंती व्यवस्था की गवाह एक रईसी हवेली और उससे जुड़े लोगों के माध्यम से तत्कालीन जीवन और समाज का अनूठा चित्रण किया गया है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दिल्ली के एक संयुक्त परिवार के सुख-दुःख का ताना-बाना खालिस उर्दू के शब्दों को जोड़-जोड़ कर बुना गया है। उपन्यास के कथानक का आधार आजादी से पहले हमारे समाज की वह पारिवारिक सामंती व्यवस्था है जिसमें रईसों के पत्नी के अलावा दूसरी कई स्त्रियों से भी संबंध मान्य थे। इस उपन्यास के मुख्य पुरुष पात्र कृपानारायण अपनी पत्नी कुटुंब प्यारी के अलावा एक अन्य स्त्री महक बानो से संबंध रखते हैं। सारांशतः कहा जा सकता है कि दिलोदानिश अर्थात यह एक द्वन्द्व है दिल और दिमाग के बीच का, समाज और प्रेम के बीच का! दिलोदानिश के तीन मुख्य स्त्री पात्र कुटुंब, महक और छुन्ना एक स्त्री जीवन के तीन भिन्न-भिन्न आयामों को प्रस्तुत करते हैं। निर्मला जैन लिखती हैं कि, "सोबती का 'दिलोदानिश' पितृसत्ताक समाज की सामंती रवायतों में स्त्री की सामाजिक हैसियत का खुलासा है। एक पत्नी और दूसरी रखैल। एक खास सामाजिक व्यवस्था में स्त्री-पुरुष संबंधों की असलियत को उजागर करता यह उपन्यास क्या उस विरासत के बारे में जानने और सोचने की मजबूरी पैदा नहीं करता?"[43] यह उपन्यास ऐसी सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न उठाता है जहाँ आर्थिक दृष्टि से पुरुषों पर निर्भर स्त्रियों की स्थिति हमेशा दुविधाग्रस्त और त्रासद बनी रहती है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में पुरुषों के लिए विवाहेतर संबंध रखना तो सामान्य है परंतु यही पुरुष अपने संरक्षण में रहने वाली हर स्त्री से एकनिष्ठता की अपेक्षा रखता है। कृपानारायण साहिब एक संयुक्त परिवार के कर्ता-धर्ता हैं। परिवार आर्थिक रूप से कृपा नारायण पर निर्भर करता है। इस विषय में कृष्णा सोबती लिखती हैं, " दिलोदानिश' के संयुक्त परिवार के कर्ता के रूप में कृपानारायण साहिब को सपाट आदर्शवादी भोलेपन से देखा नहीं जा

सकता। उनका परिवार का कर्ता होना और वकील होना दोनों ही जिस अनुपात से एक-दूसरे से गूँथे हैं, वह अपने आप में एक मनोवैज्ञानिक पहेली नहीं तो स्थिति जरूर है। अपने हक में जिस मर्यादा से पत्नी-कुटुंब का सहृदय शोषण करते हैं, उसी मर्यादा के तहत अधिकारों का पोषण करने को महक की अवहेलना भी करते हैं। ...इसके बावजूद वकील साहब में जो भी खूबियाँ-खामियाँ हैं, वे ऐसे ढंग से सतह के ऊपर और नीचे सिधाई गई हैं कि उसमें किसी गुण-अवगुण की थिगलियाँ अलग से आसानी से देखी नहीं जा सकतीं। "[44]

समय सरगम: (2000)

उपन्यास 'समय सरगम' आज के बदलते परिदृश्य में व्यक्ति की विश्वव्यापी स्वाधीनता, उसके वैचारिक विस्तार और संस्कार के नए मानकों को चित्रित करता है। उपन्यास के सभी मुख्य पात्र जीवन की ढलती अवस्था में हैं। वृद्ध पात्रों दमयन्ती, प्रभुदयाल, कामिनी, ईशान तथा अरण्या के माध्यम से भारतीय पारिवारिक ढाँचे के विभिन्न आयामों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। दमयन्ती अपने परिवार में बेटे-बहुओं के नियंत्रण में रहने को बाध्य है। जमीन-जायदाद के लालच में प्रभुदयाल की अपने ही बेटों द्वारा हत्या कर दी जाती है। कामिनी का अपना भाई रुपयों के लोभ में उसे समाज की नजर में पागल घोषित करने पर तुला हुआ है। कहानी के दो मुख्य पात्र अरण्या और ईशान इस परंपरागत पारिवारिक व्यवस्था से बाहर हैं तथा निजी आस्थाओं और विचारों में पर्याप्त विरोधाभास होते हुए भी जीवन के बचे हुए समय को पूरी उमंग और उत्साह से जीना चाहते हैं। अन्य दो स्त्री पात्रों 'दमयंती' तथा 'कामिनी' की तुलना में 'अरण्या' की स्थिति से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि सफलतापूर्वक जीवन यापन का मूल मंत्र व्यक्ति की आत्मनिर्भरता में निहित है।

गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान: (2017)

सिरोही रियासत के दत्तक पुत्र महाराजा 'तेज सिंह' की गवर्नेस के रूप में अपनी पहली नौकरी के अनुभवों को याद करने के साथ ही इस उपन्यास द्वारा कृष्णा सोबती ने अपनी स्मृतियों में बसी उन घटनाओं को भी ताजा किया है जो भारत पाकिस्तान विभाजन के दौरान घटी थीं। धर्म के नाम पर दंगाइयों द्वारा किये गए नरसंहार तथा विभाजन से जुड़ी विस्थापन की तकलीफों का चित्रण करने के साथ ही कृष्णा सोबती ने भारत की आज़ादी के उपरांत रियासतों के विलय होने की शुरूआती प्रक्रिया का भी वर्णन किया है। यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। उपन्यास की शुरुआत कृष्णा सोबती की उन स्मृतियों से होती है जिनमें उनके अजीज विभाजन के बाद दिल्ली छोड़ कर पाकिस्तान की और अपने कदम बढ़ा रहे थे। प्रस्तुत उपन्यास में कृष्णा सोबती ने विभाजन और इससे जुड़े शरणार्थी शब्द की व्यापक रूप से व्याख्या की है। कृष्णा सोबती के शब्दों में, "विभाजन- एक शब्द। शरणार्थी- एक विशेषण। लुटा-पुटा गरीब। कैम्पों में रहने वाला। विस्थापितों को राशन मुफ्त मिल सकता है। फार्म भरा होना चाहिए तो कम्बल के भी हकदार हो सकते हैं।"[45] सोबतीबाई के माध्यम से कृष्णा सोबती ने स्वतंत्र भारत की आधुनिक, चेतनाशील तथा आत्मनिर्भर स्त्री को चित्रित किया है।

चन्ना: (2019)

चन्ना कृष्णा सोबती की लेखनी से रचित प्रथम उपन्यास है जिसका प्रकाशन काफी विलम्ब से हुआ। स्वयं की भाषा शैली के प्रति कृष्णा सोबती के अनन्य लगाव को इसके प्रकाशन में हुई विलम्ब की वजह के रूप में लिया जा सकता है। उपन्यास की प्रमुख पात्र चन्ना ग्रामीण संस्कृति तथा तत्कालीन शहरी संस्कृति को जोड़ती हुई एक कड़ी है जिसके जीवन के इर्द-गिर्द उपन्यास की कथा बुनी गई है। आजादी से पहले के पंजाब के एक गाँव में शाह और आसामियों के संबंधों, जमीन-जायदाद से जुड़ी रंजिशों, स्यालकोट, लाहौर और शिमला शहर की हलचलों को एक साथ

बुनती यह महागाथा उपन्यास की नायिका चन्ना के माध्यम से लोक परम्पराओं से जुड़ी आधुनिक स्त्री-छवि को गढ़ती है। चन्ना इस मिली-जुली संस्कृति में जन्मी एक ऐसी स्त्री है जो पढ़-लिख कर भी अपनी जड़ों से जुड़ी रहती है। अपनी जमीन, अपनी विरासत, संस्कृति के प्रति सचेत चन्ना की सोच अपने समय से बहुत आगे है। उपन्यास के अंत में चन्ना का वापस गाँव जाने का निर्णय स्त्री की बंधी-बंधाई छवि को तोड़ता है। यह निर्णय उन सीमाओं का अतिक्रमण करता है जिनके अंदर ही हमारा समाज एक स्त्री को देखना चाहता है।

अन्य रचनाएं

चलचित्र पटकथा- जैनी मेहरबान सिंह:

मूलरूप से 'जैनी मेहरबान सिंह' पटकथा के पहले प्रारूप के अंदाज में ही लिखी गई थी और संयोगवश इस कृति के तार उनकी बहुचर्चित कृति 'मित्रो मरजानी' से जुड़े हुए हैं। 'मित्रो मरजानी' पर फिल्म बनाने का प्रस्ताव फिल्मकार राम माहेश्वरी द्वारा रखा गया था इसके लिए कृष्णा सोबती को बम्बई भी आमंत्रित किया गया था। परंतु मित्रो की जिस छवि को फिल्मकार प्रस्तुत करना चाहते थे उससे कृष्णा सोबती संतुष्ट नहीं थीं। 'मित्रो मरजानी' की 'समित्रा रानी' के एक अपेक्षाकृत आधुनिक और शहरी विकल्प के रूप में 'जैनी मेहरबान सिंह' के पात्र को गढ़ा गया था। गिरिधर राठी के शब्दों में, "साहित्य और सिनेमा के इतिहास में शायद यह पहली रचना थी जब किसी लेखक ने अपने ही रचे एक पात्र की छवि बचाए रखने के लिए एक दूसरा पात्र गढ़ दिया।"[46] 'जैनी मेहरबान सिंह' चल चित्र की पटकथा है जिसमें रोमांच, रोमांस तथा स्टंट इत्यादि के अनेक अवसर थे परंतु कुछ कारणवश इस पर फिल्म नहीं बन पाई। कई वर्षों बाद 2007 में राजकमल प्रकाशन द्वारा यह रचना प्रकाशित हुई। 'बुनियाद' टेली सीरियल के लिए कृष्णा सोबती ने संवाद चयन में सलाहकार के रूप में कार्य किया था। यह दूसरा मौका था जब वह फिल्म जगत से जुड़ती परंतु यह एक असफल प्रयास रहा। 'जैनी मेहरबान सिंह' भारतीय मूल के प्रवासी मेहरबान सिंह के उस

निर्दोष और निस्वार्थ प्रेम की कहानी है जो उसने अपनी बिछड़ी धरती, उसके लोगों और साहिब कौर के प्रति जीवन भर महसूस किया। जिस प्रेम को उनकी बेटी जैनी ने एक दूसरे के बैरी दो गाँव 'पट्टीवाल' और 'अट्टारीवाल' के बीच एक मुक्कम्मल मक़ाम तक पहुँचाया। 'जैनी मेहरबान सिंह' जिंदगी की एक खुशनुमा तस्वीर है जिसे कृष्णा सोबती ने बेहद रोचक अंदाज से प्रस्तुत किया है।

संस्मरण- मार्फ़त दिल्ली:

अपने बचपन से ही हिंदुस्तान की राजधानी दिल्ली के दिल से जुड़ी कृष्णा सोबती ने 'मार्फ़त दिल्ली' में आज़ादी के बाद की सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक तस्वीरों पर जमी धूल को अपने छोटे-छोटे संस्मरणों के माध्यम से झाड़-पोंछ कर चिकना किया है। यह वह समय था जब इस नए आजाद देश का साहित्यक समाज भी देश और दुनिया को नई नजरों से देख रहा था। उस समय दिल्ली का 'मंडी हाउस' और 'कनाट प्लेस' ऐसे अड्डे बने हुए थे जहाँ लेखकों, कवियों की एक नई पीढ़ी उभर रही थी। मार्फ़त दिल्ली के इन पन्नों में कृष्णा जी ने ऐसी ही कई यादों को संजोया है।

हम हशमत(भाग 1, 2, 3 और 4)

'हम हशमत' कृष्णा सोबती से जुड़े लोगों के साथ उनके संस्मरणों की एक कड़ी है जिसमें विख्यात साहित्यकार, पत्रकार और उनके अन्य अजीज़ शामिल हैं। 'हम हशमत' की हशमत स्वयं कृष्णा सोबती हैं। हशमत बेचैन हैं जीवन के सही और सम्पूर्ण मूल्यों की पहचान में तथा अपने अजीजों से जुड़ी छोटी-छोटी यादों के जरिए वे साहित्य और समाज के मूल सत्य को उजागर करना चाहती हैं। 'हम हशमत' की रचना से उन्होंने साबित कर दिया कि वे एक समर्थ कथाकार होने के साथ साथ ही एक संपन्न शब्द चित्रकार भी हैं। कृष्णा सोबती ने 'हम हशमत' के माध्यम से अपने समकालीन साहित्यकारों पर लिखे गए संस्मरणों को साझा किया है। हशमत कृष्णा सोबती के लेखकीय व्यक्तित्व का हमसाया हैं। हशमत के विषय में कृष्णा सोबती लिखती हैं, "अनुशासन

के मुताबिक वक्त का सामना करना और संवाद करना इस छोटी सी अक्खड़ हस्ती का मामूली-सा बौद्धिक सरमाया है। अब आप ही सोचिए कि हम दोनों के दरमियान असल कौन है और नक़ल कौन है। "[47]

कहानी संग्रह- बादलों के घेरे:

'बादलों के घेरे' कृष्णा सोबती की प्रारंभिक कहानियों का संग्रह है जिसमें कुल 24 कहानियाँ हैं। इस कहानी संग्रह में कुछ बेहद महत्वपूर्ण तथा चर्चित कहानियाँ यथा 'बादलों के घेरे', 'दादी-अम्मा', 'सिक्का बदल गया' तथा 'नफीसा' इत्यादि संकलित हैं। इन कहानियों का रचनाकाल भिन्न रहा है परन्तु यह उनके आरंभिक लेखन से ही सम्बद्ध है। यह कहानियाँ एक कैनवास की तरह हैं जिस पर जीवन के विविध रंगों की छाप पड़ी है। ये कहानियाँ कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से कृष्णा जी के रचनात्मक वैविध्य को रेखांकित करती हैं। गुजर चुके, गुजर रहे वक्त पर लिखी इन कहानियों की प्रासंगिकता समयानुरूप ही गतिमान है।

अनौपचारिक पाठ- मुक्तिबोध: एक व्यक्तित्व सही की तलाश में:

हिंदी साहित्य के कुछ ही रचनाकारों को बार-बार अलग-अलग कसौटियों पर परखा जाता है इनमें मुक्तिबोध का नाम अग्रणी है। वस्तुतः यह पुस्तक मुक्तिबोध की कविताओं के चुनिन्दा अंशों का कृष्णा जी द्वारा किया गया गहन पाठ है। यह पुस्तक इस विलक्षण कवि के रचनाकर्म को नए संदर्भों के साथ पढ़ने का अवसर देती है। यह रचना 2017 में मुक्तिबोध की जन्मशती पर कृष्णा सोबती की ओर से श्रदांजलि स्वरूप भी समझी जा सकती है। मुक्तिबोध के जीवन पर नजर डालने पर हम पाएंगे कि उनकी कालजयी रचना 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' उनके देहांत के बाद ही प्रकाशित हो पाई। काव्यजगत में उचित प्रतिष्ठा और सम्मान भी उन्हें मृत्यु के उपरांत ही मिला। जीवनपर्यंत वे अपने यथार्थ और जागृत लेखन के कारण राजकोप के भागी बने रहे। कृष्णा सोबती ने जब मुक्तिबोध पर लिखने के लिए कलम उठाई तो उनकी मनःस्थिति कमोबेश वही थी जैसी मुक्तिबोध की रही होगी।

जब सत्ताधारी राष्ट्र के हित को दोयम स्थिति पर रखकर निज स्वार्थ के वशीभूत हो साम्प्रदायिकता, जातीयता और भेदभाव की राजनीति को हवा देते हैं तो एक सच्चे लेखक और साहित्यकार का फर्ज होता है कि वह सत्ता के प्रलोभन से हटकर अपनी कलम का इस्तमाल यथार्थ के निष्पक्ष लेखन में करे। जीवनपर्यंत कृष्णा सोबती ने लेखकीय उसूलों के साथ कोई समझौता नहीं किया परंतु जीवन के आखिरी वर्षों में उनका यह व्यक्तित्व और भी मुखर और निडर हो चुका था। मुक्तिबोध जैसे चिंतनशील, बुद्धिजीवी रचनाकार के विषय में लिखना लेखकीय कर्तव्यों के प्रति समर्पित होने का उदाहरण भी है। अपनी इस रचना में कृष्णा सोबती ने मुक्तिबोध के साहित्यिक कर्म का विस्तृत विवेचन किया है। इससे जुड़े एक रोचक तथ्य का गिरिधर राठी ने अपनी पुस्तक 'दूसरा जीवन' में उल्लेख किया है- कवि, आलोचक सुकृता पॉल ने जब अपनी कुछ पेंटिंग्स सोबती जी को दिखाई तो कृष्णा सोबती ने कहा कि उन्हें इन चित्रों में मुक्तिबोध की कविता नजर आ रही है। सुकृता पॉल इस कथन से अवाक् रह गई थीं क्यों कि वास्तव में उन पेंटिंग्स की रचना के दौरान वह मुक्तिबोध के रचना संसार में ही डूबी हुई थीं। इस घटना से भी कृष्णा सोबती की मुक्तिबोध के रचना कर्म पर गहरी पकड़ का परिचय मिलता है। गिरिधर राठी लिखते हैं, "कृष्णा सोबती ने छिटपुट 'समीक्षा' बहुत कम लिखी है। यह 'मुक्तिबोध' भी पारंपरिक आलोचना से सर्वथा अलहदा, मुक्तिबोध की तलाश के भीतर अपने लिए भी कुछ तलाश करती पुस्तक है। हशमत की तरह ही यहाँ अपने नायक को समग्रता में जांचा-परखा गया है, मगर हशमत से नितांत भिन्न शैली और तेवर से। "[48] कृष्णा सोबती लिखती हैं–"मुक्तिबोध स्वयं अपनी सोच के अँधेरों से आतंकित होते हैं. फिर उजालों को अपनी रूह में भरते हैं. अपनी आत्मशक्ति की प्रखरता को जांचते हैं और मुक्तिबोध से आत्मबोधी बन जाते हैं। "[49] यह पुस्तक एक अनौपचारिक कृति कही गई है क्योंकि इसके लिए कोई अलग से भूमिका नहीं लिखी गई है तथा अनुक्रमणिका भी नहीं दी गई है।

यात्रा संस्मरण- बुद्ध का कमंडल: लद्दाख

लद्दाख को बुद्ध के कमंडल के नाम से भी जाना जाता है। हिमालय की ऊँचाइयों में स्थित लद्दाख दूसरे पर्वतीय स्थानों से एकदम अलग है। ऊपर निर्मल नीला आकाश, श्वेत फेनिल बादलों से सजा और नीचे पीले, रेतीले, मटमैले में स्लेटी ऊँचे बर्फीले शिखरों को लुभाती ग्रे, काली, ताम्बई और दालचीनी रंग की चट्टानें ! कुदरत के कठोर वैभव का अनूठा लैंडस्केप ! लद्दाख की जीती-जागती छवियों से सजी इस किताब में कृष्णा सोबती ने वहां बिताए अपने कुछ दिनों की यादें ताजा की हैं और उन अनुभूतियों को फिर से अंकित किया है जिन्हें विश्व के इसी भू-भाग में अनुभव और अर्जित किया जा सकता है। डॉ. जसविंदर कौर बिन्द्रा इस यात्रा संस्मरण के विषय में लिखती हैं, "लेखिका ने इसे बुद्ध का कमंडल कहा...। लेखिका द्वारा लद्दाख की यात्रा करवाए जाने के बाद पाठकों को भी यह शीर्षक अत्यंत सार्थक लगता है, क्योंकि उस कमंडल में लद्दाख का समृद्ध इतिहास, सांस्कृतिक परम्पराएं और बौद्ध संयम सहेज कर रखा हुआ है, परंतु प्राकृतिक सौन्दर्य पल-पल छलकता प्रतीत होता है, जिसका वर्णन लेखिका जब अपनी चिर-परिचित लयमय, भावपूर्ण और ओजमय भाषा में व्यक्त करती है, तो पाठकों को अभिभूत होने में देर नहीं लगती। "[50]

शब्दों के आलोक में: इत्यादिक

'शब्दों के आलोक में' कृष्णा जी की एक ऐसी कृति है जिसे साहित्यिक विधा के मानदंडों के अनुसार किसी सुपरिभाषित वर्ग में नहीं रखा जा सकता। इस पुस्तक की रचना के आधार में भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला के आतिथ्य ग्रहण के दौरान बिताया गया समय है। कृष्णा सोबती ने साहित्य, समाज, भाषा, जीवन, जगत इत्यादि विषयों पर अपने विचारों को गूँथ कर उसे पुस्तक का आकार दे दिया है। 'शब्दों के आलोक में' द्वारा कृष्णा सोबती के कवि व्यक्तित्व का भी परिचय मिलता है। हालाँकि कृष्णा सोबती का कहना था कि कविता लिखना उनकी सामर्थ्य से बाहर है। इस संबंथ में अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने स्वीकारा था कि

कवि हमेशा नंबर वन पर रहेंगे। "कविता का संबंध अपने समूचे अंतरंग से होता है और बाहर के आलोक से उसे हम अंदर पाते हैं। दोनों के अँधेरे और उजाले से कविता का जन्म होता है। पर कहानी के लिए ये बात नहीं। उसमें जो आँखों से बाहर देखते हैं उस अनुभव को लिखते हैं। इसलिए कहा जाता है कि कवि लौकिक नहीं अलौकिक शक्ति से उर्जा पाता है। उदात्त प्रकृति से सिमटा हुआ नहीं, वह दूर तक जीता है। इसलिए कविता का स्थान गद्य से ऊपर है। गद्य वालों को मान लेना चाहिए कि वे नंबर दो पर हैं। नंबर एक पर कवि हैं। "[51]

सोबती एक सोहबत:

'सोबती एक सोहबत' उनके बहुचर्चित कथा-साहित्य, संस्मरणों, रेखाचित्रों, साक्षात्कारों और कविताओं से एक चयन है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो "रचना न बाहर की प्रेरणा से उपजती है, न केवल रचनाकार के मानसिक दबाव और तनाव से। रचना और रचनाकार, दोनों अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता में एक-दूसरे का अतिक्रमण करते हैं और एक हो जाते हैं। इसी के साथ लेखक पर रचना की शर्तें लागू हो जाती हैं और रचना पर लेखकीय संयम और अनुशासन।"[52] यह एक ऐसी कृति है जो साहित्य की हर विधा को अपनी लेखनी के माध्यम से संपन्न करने वाली वरिष्ठ लेखक की बहुआयामी प्रतिभा पर प्रकाश डालती है। कृष्णा जी कहा करती थीं, "लेखक की संभावनाएँ मात्र जीने के सहज ज्ञान से परे साहित्य में संचित गहराई के उस स्रोत से प्रवाहित होती हैं जो बौद्धिक स्तर पर वह अपनी जिज्ञासा, उत्कंठा और मनन की इच्छाशक्ति से अपने में जगाता है। लेखकीय अस्तित्व में लेखक अपने जीने की साधारणता को सृजन की असाधारणता में जीता है।"[53]

इसमें कोई संदेह नहीं कि कृष्णा सोबती का व्यक्तित्व तथा लेखन बहुआयामी था। उनके लेखन को स्त्री लेखन के सीमित दायरे में बाँधा नहीं जा सकता। परंतु यह भी सत्य है कि स्त्री स्वर को हिंदी साहित्य में ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य में बुलंदी से स्थापित करने का श्रेय कृष्णा सोबती को है। जिस दृढ़ता से उन्होंने साहित्य जगत में अपनी जगह बनाई और व्यापक परिदृश्य को

समाहित करते हुए एक युगांतरकारी साहित्य की सृष्टि की, वैसा वैविध्य और साहस कृष्णा सोबती से पूर्व अन्य किसी महिला लेखिका में दिखाई नहीं पड़ता है। कृष्णा सोबती में भाषा की परख तथा कल्पना एवं यथार्थ के मिश्रण से रचना निर्माण की अद्भुत क्षमता थी जिसके आधार पर सृजित पात्र उनके पाठकों के जेहन में बने ही रहते हैं। कृष्णा सोबती का रचनाकर्म एक अमूल्य साहित्यिक धरोहर है जो आज के और आने वाली पीढ़ियों के रचनाकारों एवं पाठकों को रोशनी देता रहेगा।

2.3- इंदिरा गोस्वामी: जीवन एवं व्यक्तित्व

इंदिरा गोस्वामी का जन्म असम के दक्षिणी कामरूप जिले के प्रतिष्ठित 'अमरंगा सत्र'[1] के सत्राधिकार परिवार में सन 1942 में हुआ था। असम के वैष्णव मठों को सत्र कहा जाता है जिनकी स्थापना शंकरदेव द्वारा की गई थी। सत्र का मुखिया सत्राधिकार या गोसाईं कहलाता है। सत्र असम समाज के धार्मिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों के केंद्र रूप में भी जाने जाते हैं। सत्राधिकार किसी सत्र का आध्यात्मिक प्रमुख तथा सामाजिक प्रमुख होने के साथ ही जमींदार की भाँति कई

[1] (असम में ब्रह्मपुत्र नदी के दोनों तटों पर वैष्णव संतों द्वारा सत्रों की स्थापना की गई है। ये सत्र असम की धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र भी बने रहे हैं। प्रो. एम. नियोग ने अपनी पुस्तक 'शंकरदेव एण्ड हिज टाइम्स' में लिखा है, "असम का वैष्णव सत्र चारों ओर से एक दीवार से घिरा रहता है और इसमें चार द्वार या कपाट होते हैं। भीतर कुटियों की चार कतारें या लंबे आकार के चार मकान रहते हैं और प्रत्येक मकान में अनेक कमरे होते हैं। केन्द्रीय भाग में एक मंदिर रहता है जिसे मणिपुट या भजघर कहते हैं। साथ में एक सभागार भी होता है। कुटियों की चारों कतारें या लंबे मकान हाटी कहलाते हैं। कुटिया या कमरा प्रायः एक ही आकार का होता है, लेकिन पूर्वी कतार वाली कुटिया या कमरा थोड़े बड़े आकार का रहता है और वहीं पर मठाधीश या सत्र-अधिकार या सत्रीया रहता है। इसके अलावा वहाँ उप-अधिकार यानी डेका अधिकार या डेकासत्रीया तथा संस्था के अन्य कार्यकर्ता भी रहते हैं। "(दक्षिणी कामरूप की ग्रंथ, पृष्ठ-263))

बीघे भूमि का मालिक भी होता है। एस. सी. गोस्वामी ने अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोड्यूसिंग असम्स वैष्णविज़्म' में लिखा है, "अधिकार लोगों को न केवल उनके अनुयायी सर्वमाननीय मानते हैं, बल्कि हर मत-मतांतर के दूसरे छोटे-बड़े लोग भी। जो सत्र अत्यधिक प्रभावशाली हैं, वहाँ किन्हीं अवसरों पर राज्य के प्रशासनिक प्रमुख स्वयं ही जाते रहे हैं। "[54] 'अमरंगा सत्र' मुख्य रूप से गराईमारी में अवस्थित था परंतु भूकंप द्वारा क्षत-विक्षत होने के पश्चात इस सत्र को पहले जाम्बोरी तत्पश्चात अमरंगा में स्थापित किया गया। यह सत्र ब्रम्हपुत्र के दक्षिणी किनारे पर अवस्थित है। इंदिरा गोस्वामी के पूर्वज उत्तर प्रदेश के कन्नौज से आकर असम में बसे थे। वैष्णव संत, श्री संत देव द्वारा इस सत्र की स्थापना अनुमानतः 470 वर्ष पूर्व की गई थी। श्री संत देव ने ब्रम्हपुत्र के दक्षिणी किनारों पर विभिन्न पहाड़ी प्रजातियों गारो, राभा इत्यादि के बीच वैष्णव मत का प्रचार-प्रसार आरंभ किया था, जिससे छोटे- छोटे भू-भागों यथा रानी क्षेत्र, लूकी और मारुपुरिया के राजा, श्री संत देव के शिष्य बन चुके थे। अहोम राजा शिव सिंह द्वारा आधे कर वाली भूमि सत्र को दान दी गई थी। कालांतर में कमिश्नर जेन किंग के समय में वापस से सत्रों की जमीन पर कर लगा दिया गया था। इंदिरा गोस्वामी के पिता श्री उमाकांत गोस्वामी अपने क्षेत्र के प्रतिष्ठित शिक्षाविद थे। स्कूली शिक्षा के दौरान उन्होंने कई स्वर्ण पदक प्राप्त किए थे। डा. उमाकांत गोस्वामी सुविख्यात अर्थशास्त्री थे, जिन्हें 1937 में ब्रिटिश सरकार द्वारा 'कोरोनेशन कामरेटिव पदक' भी प्रदान किया गया था। कोलकाता में 1925 में आयोजित 'इकोनामिक इन्क्वायरी कमेटी' में वह असम के प्रतिनिधि के रूप में 'साइमन कमीशन' के समक्ष प्रस्तुत हुए थे। इंदिरा गोस्वामी की माँ अंबिका देवी भी असम के प्रतिष्ठित शाही परिवार से सम्बद्ध थीं। अंबिका देवी के पिता दुर्गानाथ फुकन अहोम राजा पुरधर सिंह के राज्य के प्रसिद्ध अधिकारी काशीनाथ तुमुली फुकन के वंशज थे। इंदिरा गोस्वामी के दादा 'नरकासुर वध' नामक पुस्तक के रचयिता थे। उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक में उन्होंने अंग्रेजों को असुर की संज्ञा दी थी। इस पुस्तक को ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था। अपनी आत्मकथा 'जीवन कोई सौदा नहीं' में इंदिरा गोस्वामी स्वीकारती हैं कि उनके नाना

और दादा के व्यक्तित्व आत्मकथा लेखन के लिए उनके प्रेरणास्रोत रहे हैं। "मैंने पहले ही बताया है कि मैं अपने दादा और नाना के जीवन चरित्र की बहुत सी बातों को अपनी इस अधूरी आत्मकथा में पूर्ण रूप से नहीं लिख पाई हूँ। उनके व्यक्तित्व इसे लिखते समय मेरे प्रमुख प्रेरणास्रोत रहे हैं।" [55] असम में इंदिरा गोस्वामी को "मामोनी बाइदेउ" के नाम से सम्बोधित किया जाता था। बाइदेउ का अर्थ होता है दीदी।

इंदिरा गोस्वामी की प्रारंभिक शिक्षा शिलॉग के पाइन माउंट स्कूल तथा गुवाहाटी के तारिणी चरण गर्ल्स हाई स्कूल से हुई थी। शिलॉग का पाइन माउंट स्कूल शहर का प्रतिष्ठित स्कूल था। धनी तथा सम्पन्न परिवार की लड़कियाँ इस स्कूल में पढ़ा करती थीं। इसके उपरांत इंदिरा गोस्वामी ने कॉटन कॉलेज से स्नातक तथा गुवाहाटी विश्वविद्यालय से "तुलसीदास तथा माधव कन्दली की रामायण का तुलनात्मक अध्ययन" विषय पर पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। शोध के दौरान वे वृन्दावन के 'इंस्टिट्यूट ऑफ़ ओरिएन्टेल फिलासफी' से जुड़ी रहीं। इस विस्तृत शोध के उपरांत ही इंदिरा गोस्वामी ने "रामायण फ्रॉम गंगा टू ब्रम्हपुत्र" नामक ग्रन्थ की रचना की। शुरुआत में कुछ प्रसंगों के कारण इंदिरा गोस्वामी रामायण कथा से पूरी तरह संतुष्ट नहीं थीं यथा राम द्वारा बाली पर पीठ पीछे से प्रहार करना, लक्ष्मण द्वारा शूर्पनखा की नाक काटना तथा एक शूद्र संबूक द्वारा तप करने के परिणाम स्वरूप राम के हाथों उसका वध इत्यादि। परंतु फादर कामिल बुल्के ने इस विषय पर उनके संदेहों को दूर किया। इंदिरा गोस्वामी लिखती हैं, "फ़ादर बुल्के रचित ग्रंथ को पढ़कर श्री रामचंद्र के परम पवित्र चरित्र के विषय में मेरे मन में उठी अनेक शंकाएं दूर हो गई थीं। राम के निष्कलुष चरित्र पर कलंक लगाने वाली बातें आरोपित हैं, इसके उन्होंने समुचित प्रमाण देकर समस्त शंकाओं का निराकरण किया है। "[56] इंदिरा गोस्वामी ने विभिन्न राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठियों एवं संगोष्ठियों द्वारा रामायण के सांस्कृतिक तथा सामाजिक मूल्यों को आत्मसात करने का संदेश दिया। इंदिरा गोस्वामी के अनुसार रामायण की महत्ता भारत ही नहीं वरन विश्व की प्रत्येक संस्कृति में है। इंदिरा गोस्वामी रामायण को धर्मनिरपेक्ष महागाथा मानती थीं। इंदिरा गोस्वामी ने मॉरिशस

का कई बार दौरा किया था। उन्होंने सूरीनाम, ब्रिटिश गुयाना, फिजी तथा टिनीट्राद इत्यादि स्थानों के बंधुआ मजदूरों की तकलीफों को महसूस किया था।

इंदिरा गोस्वामी के पति का नाम माधवन रायसम आयंगर था। वह मैसूर के मूल निवासी थे तथा पुल निर्माण विभाग में चीफ इंजीनियर पद पर कार्यरत थे। ब्रह्मपुत्र के शराईघाट पुल के निर्माण-कार्य के लिए गुवाहाटी आने के दौरान उनकी इंदिरा गोस्वामी से मुलाकात हुई। 1963 में माधवन रायसम आयंगर ने इंदिरा गोस्वामी के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा। इंदिरा गोस्वामी बहुत दुविधा में थी। वह लिखती हैं, "प्रेमियों का भी तो कोई अंत न था। हिंदू, मुसलमान, ब्राह्मण, कायस्थ, एक से बढ़ कर एक विचित्र! कोई कविता लिख भेजता था, तो कोई लंबे-लंबे पत्रों में रूप-गुण की महिमा का बखान करते न थकता था, किसी को तो मेरे घर के सामने से आने-जाने में ही जैसे असीम आनंदानुभूति होती थी। प्रेमियों में एक मानसिक रोगी भी था, जो एक दिन घर के सामने पूरा निर्वस्त्र होकर धरना देकर लेट गया और राह-चलते हर आने-जाने वाले को चिल्ला-चिल्ला कर बुलाने और मेरा नाम लेकर कहने लगा कि उस लड़की ने मेरे पाँव में एक काँटा चुभो रखा है, उसे बुलाकर निकालने को कहिए। बाद में उसे पकड़ कर पुलिस ले गई, मुझे स्पष्ट याद है। "[57] ऊहापोह की इस स्थिति में उन्होंने अपने एक प्रेमी से कोर्ट मैरिज कर ली। घर में यह बात किसी को नहीं पता थी और स्वयं इंदिरा गोस्वामी इस विवाह को स्वीकार नहीं कर पा रही थीं। कुछ दिनों के भीतर ही उस व्यक्ति के उग्र व्यवहार के कारण इंदिरा गोस्वामी ने यह रिश्ता तोड़ लिया। माधवन के प्रति इंदिरा गोस्वामी का आकर्षण था। परंतु वह जानती थीं कि माधवन के विजातीय होने के कारण उनकी माँ इस संबंध को स्वीकार नहीं करेंगी। शुरुआत में परिवार में काफी विरोध हुआ। अंततः 1965 के अक्टूबर माह में इंदिरा गोस्वामी का विवाह माधवन रायसम आयंगर के साथ संपन्न हुआ। माधवन ने इंदिरा गोस्वामी को लेखन के लिए सदैव प्रेरित किया। उन्होंने इंदिरा गोस्वामी से कहा, "तुम्हें लेकर मैं यहाँ से दूर चला जाना चाहता हूँ। मेरे साथ-साथ वर्क साइट्स पर घूम-घूम कर तुम श्रमिकों के बारे में कहानी लिख सकोगी, उन्हें नजदीक से देख सकोगी, जान

सकोगी। ”[58] माधवन से विवाह के पश्चात इंदिरा गोस्वामी को कच्छ की रण मरुभूमि के कुँवर वेद नामक स्थान की वर्क साइट्स पर बने अस्थायी निवासों पर रहने का तथा श्रमिक-जीवन को नजदीक से देखने का अनुभव प्राप्त हुआ। 1965 के समय मजदूर यूनियनों का अस्तित्व नहीं था। दिहाड़ी मजदूरों की स्थिति बेहद दयनीय थी। पूरे दिन की मजदूरी के उन्हें मात्र साढ़े तीन रुपए मिलते थे। मजदूरों का इस तरह का शोषण उन्होंने गुजरात के अतिरिक्त कश्मीर में भी देखा। कश्मीर में चंद्रभागा नदी के ऊपर पुल-निर्माण का कार्य हिन्दुस्तान कंस्ट्रक्शन कंपनी द्वारा किया जा रहा था। कंस्ट्रक्शन साईट पर काम करने वाले मजदूरों के घरों की स्त्रियों का शोषण जहाँ निर्माण कार्य में लगी कंपनी के अधिकारियों द्वारा होता था, वहीं सेना के जवानों द्वारा भी होता था। कंस्ट्रक्शन साइट पर दिहाड़ी मजदूरों की दुर्दशा इंदिरा गोस्वामी की आँखों-देखी थी। अपनी आत्मकथा में इस बात का जिक्र करते हुए वे लिखती हैं, “सन 1965-66 में भारतवर्ष की एक बड़ी प्राइवेट कंस्ट्रक्शन कंपनी का यह असली रूप था। बिना किसी यूनियन के असंगठित रूप से काम करते इन तीन हजार मजदूरों की हालत कैदियों से भी बद्तर थी। किसी के मुँह से प्रतिवाद या प्रतिरोध का एक शब्द भी कभी नहीं निकलता था उन्हें ठेकेदार की गुलामी के सिवाय और कुछ नहीं पता था।”[59]

वर्ष 1967 के मार्च में माधवन रायसम आयंगर की पोस्टिंग कश्मीर के सुईना एक्वेडक्ट निर्माण में बतौर मैनेजर की गई। इसी पोस्टिंग के दौरान सड़क दुर्घटना में उनके पति की मृत्यु हो गई। इंदिरा गोस्वामी के जीवन का यह मोड़ बहुत भयानक था। पूरे घटनाक्रम का बहुत मार्मिक विवरण उन्होंने अपनी आत्मकथा में दिया है। इस घटना के लगभग 20 वर्ष बाद लिखी आत्मकथा में वे लिखती हैं, “युग बीत गए हैं। जाने कितने युग! जीवन तो रहकर भी नहीं रहा। सब ख़त्म हो गया, ख़ाक हो गया। ”[60] पति की मृत्यु के बाद इंदिरा गोस्वामी के भीतर बचपन की आत्मघाती प्रवृत्ति पुनः पनपने लगी। वह लिखती हैं, “सुबह उठते ही जो गहरी निराशा मन को जकड़ लेती थी। उसने दिलो-दिमाग पर इतना गहरा असर किया था कि माधू को पाने के बाद जो आत्मघाती प्रवृत्ति मन से निकल गई थी, वह फिर से मन के किसी कोने में घर करने लगी थी। जीवन को समाप्त करने की

इच्छा फिर से साँप के फन की तरह मुँह उठाने लगी थी। ”[61] यह समय इंदिरा गोस्वामी को मानसिक रूप से तोड़ता हुआ प्रतीत हो रहा था। अपनी आत्मकथा में वह लिखती हैं, “इस दुखद घटना की मेरे मन पर बड़ी विचित्र प्रतिक्रिया हुई थी। जिस वैनिटी बैग में मैं विदेशी सेंट की शीशियाँ लिए फिरती थी, उसमें ही धीरे-धीरे एक-दो करके नींद की गोलियाँ जमा करने लगी। ऐसी मानसिक अवस्था में कैसे कोई जी सकता है।”[62] यह स्थिति इतनी विकट थी कि उनकी इतनी हिम्मत नहीं होती थी कि वे आकाश को सर उठा कर देख सकें। ऐसे मुश्किल समय में लेखन ने उनके भीतर जीवनी शक्ति का संचार किया। अपनी आत्मकथा में वह लिखती हैं, “कलम का आसरा न होता, तो मैं कैसे जीती? क्या करती? उस छिपे हुए खून के फ़ौवारे के साथ लड़ने का अस्त्र कलम ही तो थी।”[63] अपनी आत्मघाती प्रवृत्ति और मानसिक अवसाद के विषय में लिखना एक साहसिक निर्णय था क्योंकि आज भी जीवन से जुड़े इन प्रसंगों पर लोग चुप्पी साध जाते हैं। मानसिक बीमारियाँ आज भी एक टैबू हैं। उनका पहला उपन्यास ‘चेनाबेर स्रोत’ इसी दौरान लिखा गया था। इसप्रकार साहित्य सृजन के माध्यम से इंदिरा गोस्वामी अवसाद की स्थिति से बाहर निकलने में समर्थ हुईं। “मेरे लिए सब दुखों, कष्टों से छुटकारा पाने का एकमात्र आश्रय था साहित्य। अन्यथा मेरा तो बाकी समय असंतुष्टि और अशांति में ही बीतता था। ”[64]

इंदिरा गोस्वामी के उपन्यासों में विधवाओं की त्रासदपूर्ण स्थिति का हृदयविदारक विवरण प्राप्त होता है। विधवाओं के साथ किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार को उन्होंने बेहद करीब से देखा और पति की मृत्यु के बाद अनुभव भी किया था। ऐसी ही एक स्थिति का विवरण देते हुए वह लिखती हैं, “एक बार गुवाहाटी वाले घर में किसी मांगलिक अनुष्ठान के बाद मुझे भी अलग से एक और विधवा स्त्री के साथ भोजन दिया गया था। मैं उठकर चली आई थी।”[65] जीवन के इस कठिन समय में लेखन के अतिरिक्त इंदिरा गोस्वामी ने अपने स्वर्गीय पिता उमाकांत गोस्वामी की लिखी डायरी के अध्ययन में भी मन लगाया जिससे वह अपना नैराश्य दूर कर सकें। इसी दौरान इंदिरा गोस्वामी ने कुछ कहानियाँ भी लिखीं। ये कहानियाँ असमिया में प्रकाशित तो हुईं। परंतु

इंदिरा गोस्वामी ने इनका कोई रिकॉर्ड नहीं रखा। असम के 'ग्वालपाड़ा सैनिक स्कूल' में लगभग एक साल तक अध्यापक के पद पर कार्य करने के उपरांत उन्होंने वृन्दावन के इंस्टिट्यूट ऑफ़ ओरियंटल फ़िलासफ़ी में शोध कार्य करने हेतु अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था।

1969 अगस्त में वृन्दावन में उपेन्द्रचंद्र लेखारु के निर्देशन में इंदिरा गोस्वामी ने अपना शोधकार्य आरंभ किया। वृन्दावन में वह लगभग एक साल रही थीं। इंदिरा गोस्वामी ने वृन्दावन प्रवास के दौरान श्री कृष्ण की जन्मस्थली से जुड़े धार्मिक विश्वासों की आड़ में होने वाले अनाचारों को बेहद नजदीक से देखा और समझा। आगरा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध 'इंस्टिट्यूट ऑफ़ ओरियंटल फ़िलासफ़ी' शहर से दूर स्थित था। वृन्दावन में रहना उनके लिए एकदम अलग तरह का अनुभव था, परंतु अपना शोधकार्य उन्होंने बड़ी निष्ठा से किया। मंदिर के नीचे एक छोटी कोठरी में रहना, खाना खुद पकाना, मानों एक तपस्विनी हों। अपनी आत्मकथा में इंदिरा गोस्वामी ने वृन्दावन-प्रवास का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, जहाँ उन्होंने इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि शुरुआत में कोठरी की अवस्था देखकर वह शोध छोड़ने का मन बना चुकी थीं। परंतु उन्होंने लिखा, "धीरे-धीरे मैं इस जीवन की आदी हो गई। कोठरी में पंखे का इंतजाम तो था नहीं, इसलिए गर्मियों में मैंने बिस्तर छोड़ कर नीचे फर्श पर ही सोने की आदत डाल ली।"[66] इंदिरा गोस्वामी का मन इस देवनगरी में विधवाओं की दारुण स्थिति देख द्रवित हो उठा। इन विधवाओं को राधेश्यामी विधवाएं कहा जाता था। मंदिर में भजन-कीर्तन कर विधवाएं अपना जीवन व्यतीत कर रही थीं। इंदिरा गोस्वामी के शब्दों में, "वे अपने जीवन के दिन अँधेरी कोठरियों में गुजार रही थीं। अधिकांश विधवाएं पूर्वी बंगाल के दिनाजपुर, राजशाही आदि से आई थीं। उनमें से कुछ तो मन में भक्ति-भाव लेकर यहाँ आई थीं। लेकिन ज्यादातर ने पारिवारिक अशांति से जान बचाने के लिए ब्रजधाम में आश्रय लिया था। प्रायः सभी की जीवनगाथा निर्मम और दुःखभरी थी।"[67] इंदिरा गोस्वामी के अनुसार इन गरीब विधवाओं की स्थिति इतनी दयनीय थी कि इनमें से कई के पास रहने का कोई ठिकाना नहीं था। मंदिर के प्रसाद पर निर्भर रहने वाली ये विधवाएं आधा पेट भोजन खाकर अपना जीवन व्यतीत

कर रही थीं। इंदिरा गोस्वामी ने अनुभव किया कि रहने-खाने के संकट के साथ ही इन विधवाओं का दैहिक शोषण भी आम बात थी। वृन्दावन के कई मंदिर ऐसे थे जहाँ ये राधेश्यामी विधवाएं मंदिर के पुजारियों के साथ अनैतिक संबंध में रहने के लिए बाध्य थीं। उनके शोध का विषय रामायण साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन था जिसके लिए उन्होंने हिंदी भाषा का भी विस्तृत अध्ययन किया। इस कठिन परिश्रम का ही परिणाम था कि उनके शोध ग्रन्थ 'रामायण फ्रॉम गंगा टू ब्रह्मपुत्र' के आधार पर उन्हें रामायण साहित्य का आधिकारिक विद्वान घोषित किया गया। पति की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् ही उन्होंने शोध कार्य आरंभ किया था। इंदिरा जी के शब्दों में, "निराशा की जंजीरों की जकड़ ढीली करने की कोशिश में मैंने ज्यादा से ज्यादा वक्त पढ़ने-लिखने में लगाना शुरू किया, जो बाद में एक नशा सा हो गया।"[68]

शोधकार्य के दौरान ही इंदिरा गोस्वामी ने उपन्यास 'नीलकंठी ब्रज' लिखना आरंभ किया। यह उपन्यास वृन्दावन के उनके स्वयं के अनुभवों पर आधारित था। उपन्यास की नायिका सौदामिनी के विषय में इंदिरा गोस्वामी लिखती हैं, "इस उपन्यास की नायिका सौदामिनी के मन की व्यथा और छटपटाहट मुझे अपने मन में उठते दर्द के भयानक तूफ़ान के सदृश लगती थी। शुरू में जो यातना सौदामिनी ने पाई, वह मेरी अपनी थी।"[69] इंदिरा गोस्वामी ने अपने इस प्रवास के दौरान यह भी अनुभव किया कि वृन्दावन में पंडित और पण्डे धर्म, आस्था के नाम पर भक्तों को मूर्ख बना कर सिर्फ अपना उल्लू सीधा करते हैं। प्रायः ये पंडे गरीब भक्तों की एक-एक पाई तक निकलवा लेते थे। इन असहाय भक्तों के पास भोजन के लिए भी कुछ बाकी नहीं रह पाता था। "जो भक्त पंडों को दान देने में असमर्थ होते, उनका नाम एक बही में दर्ज कर लिया जाता था। दर्ज हुए उन नामों का रहस्य मैं कभी नहीं समझ पाई लेकिन उन गरीब भक्तों के भूखे पेट लौट जाने की तकलीफ को अच्छी तरह समझ पाई थी। वृन्दावन के पंडों द्वारा उन दीन-दुखी भक्तों से किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार के कारण मुझे मन-ही-मन में बहुत क्षोभ होता था।"[70] वृन्दावन प्रवास के दौरान इंदिरा गोस्वामी का विभिन्न साधू-सन्यासियों से भी साक्षात्कार हुआ। जिसमें से कुछ ऐसे थे जो वास्तव

में ब्रह्मज्ञान के प्रति समर्पित थे परंतु कुछ ढोंगी और पाखंडी भी थे। इंदिरा गोस्वामी लीला बाबा के चमत्कारों के विषय में सुनकर उनके दर्शन के लिए पँहुची। परंतु उनके मुख से विधवाओं के विषय में अप्रिय बातें सुनकर उन्हें बहुत आघात पँहुचा। उनका मन था कि वह भक्तों के बीच इसका प्रतिवाद करें परंतु वे ऐसा नहीं कर पाईं।

इंदिरा गोस्वामी ने अपनी आत्मकथा तथा उपन्यास 'नीलकंठी ब्रज' दोनों में ही ब्रजधाम में रहने वाली विधवाओं की दारुण दशा के विषय में काफी कुछ लिखा है। कुछ ऐसी वृद्ध और गरीब विधवाएं थीं जो मोक्ष प्राप्ति की लालसा में ब्रजधाम आती थीं। कुछ ऐसी थी जिन्हें उनके परिवार वालों ने बोझ समझ कर वृन्दावन भेज दिया था और फिर उनकी कोई खोज खबर नहीं लेते थे। इंदिरा गोस्वामी को इस विषय में संदेह ही लगता था कि जिस मोक्ष प्राप्ति की लालसा में ये विधवाएं ब्रजधाम आई हैं, क्या इनका दाह- संस्कार भी उचित प्रक्रिया से होता होगा? अपनी आत्मकथा में वह लिखती हैं, "इतने दिनों से वृन्दावन में रहते-रहते मुझे यह संदेह होने लगा था कि इन विधवाओं का इतनी यातनाएं सहकर जमा किया हुआ, मरने के बाद संपन्न होने वाली शरीर की क्रिया का पैसा इनके दाह- संस्कार पर पूरा खर्च नहीं होता होगा।"[71]

इन विधवा राधेश्यामियों की मार्मिक दशा का वर्णन करते हुए इंदिरा गोस्वामी लिखती हैं,—"असंख्य अँधेरी कोठरियाँ!/ असंख्य हतभागिनी विधवाएं!"[72]

वृन्दावन में राधेश्यामी विधवाओं की त्रासद स्थिति देखकर वे लिखती हैं, "इस दुनिया में सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण चीज है, मानवता। धर्म और मानवता का अटूट संबंध है, मेरी यह धारणा इस ईश्वरीय नगरी में रहकर धुलिसात हो गई थी।"[73]

ब्रज के धार्मिक स्थलों को लेकर कुछ भ्रांतियां फैली हुई थीं। परंतु इंदिरा गोस्वामी उन पर आँख मूँद कर विश्वास करने के बजाय उनका तर्क सम्मत कारण समझने की पक्षधर थीं। जैसे सेवाकुंज को लेकर यह भ्रांति थी कि वहां अभी भी रात को राधा-कृष्ण की रासलीला होती है। इसलिए यदि

कोई व्यक्ति वहाँ रात में रुकता है तो उसकी मृत्यु हो जाती है क्योंकि ईश्वर की लीला देखना पाप है परंतु इंदिरा गोस्वामी का कहना था कि इस क्षेत्र में बन्दर ही इतने सारे हैं कि यदि कोई व्यक्ति वहां रात में रुके तो बन्दर ही उस पर हमला बोल देते होंगे। वह लिखती हैं, "मुझे तो लगता था कि इस क्षेत्र में बंदर इतने ज्यादा हैं कि कोई अकेला वहाँ रात गुजारे तो बंदर ही उस पर हमला करते होंगे। लोग कहते थे कि वहाँ के मंदिरों का प्रसाद, दीया-बत्ती, यहाँ तक कि पूजा के बर्तन भी देवता रात में बिखेर कर चले जाते हैं। यह भी बंदरों की ही करामात थी, निस्संदेह! सिर्फ सेवाकुंज में ही नहीं, सारे वृंदावन में बंदरों का आतंक था। "[74] इंदिरा गोस्वामी मन की पवित्रता में तो विश्वास रखती थीं परंतु धार्मिक ढकोसलों में उनका कोई विश्वास नहीं था। पति माधू की अस्थियों को उन्होंने बहुत सहेज कर रखा था। लाख कोशिश करने पर भी उन अस्थियों को गंगा में प्रवाहित करने के लिए वह स्वयं को तैयार नहीं कर पाई। ऐसी ही एक स्थिति में जब अस्थियों के डिब्बे को नदी में प्रवाहित करने का समय आया, "बक्से को छूते ही मुझे लगा कि माधू की अस्थियों के साथ मेरा अस्तित्व तो अभिन्न हो गया है, फिर मैं उन्हें अपने से अलग कैसे करूँ? नहीं-नहीं अस्थि-विसर्जन के हिंदू नियम मैं क्या जानूं? अस्थियों के डिब्बे को मैंने धीरे से वापस रख दिया।"[75]

अपने शोध कार्य के दौरान इंदिरा गोस्वामी ने मथुरा, वृन्दावन के इतिहास का भी विधिवत अध्ययन किया। ग़दर के दौरान वृन्दावन को विद्रोहियों से बचाने वाले लखनऊ के व्यवसायी शाह कुंदनलाल, 1647 में गोविन्द जी का आलीशान मंदिर बनवाने वाले राजा मानसिंह, मुग़ल आक्रान्ताओं लोदी, औरंगजेब, नादिर शाह, अहमद शाह अब्दाली इत्यादि द्वारा मथुरा के कई बार ध्वंस किए जाने की कहानियाँ तथा इत्यादि का अध्ययन उन्होंने प्रभुदयाल के ग्रंथ 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' से किया था। ब्रजधाम के उत्सवों यथा ब्रह्मोत्सव, अक्षय तृतीया, निर्जला एकादशी, झूलन उत्सव, नागपंचमी, जन्माष्टमी, नंदोत्सव, राधा अष्टमी इत्यादि का भी विधिवत वर्णन भी उन्होंने अपनी आत्मकथा 'आधा लेखा दस्तावेज' के 'देवभूमि' भाग में किया है जो शोधकार्य के दौरान के अनुभवों पर आधारित है।

इंदिरा गोस्वामी ने अपनी आत्मकथा में उन पुरुषों का उल्लेख बेहद स्पष्ट रूप में किया है जो विवाह कर उन्हें नई जिंदगी देना चाहते थे यथा सैनिक स्कूल के अध्यापक गुरुनाम सिंह तथा ब्रज के वणिक हित कुमार गुप्ता। गुरुनाम सिंह के विषय में वे लिखती हैं, "मिस्टर सिंह के बढ़े हुए हाथ के प्रत्युत्तर में मैं अपना हाथ नहीं बढ़ा पाई थी। वह भी दोबारा कुछ कहने या पूछने का साहस न कर सके। "[76] इसके अतिरिक्त उन पुरुष साथियों के विषय में भी बताया है जिनके प्रति पति की मृत्यु के बाद उन्होंने आकर्षण का अनुभव तो किया परंतु वह स्वयं को कभी उनके प्रति समर्पित नहीं कर पाई। कमांडर साहब, वृन्दावन में इंस्टिट्यूट की मित्र मणि गौतम के भाई, इंजीनियर कैकोस बर्जोर सतारावाला ऐसे ही पुरुष मित्र थे। कमांडर साहब के विषय में इंदिरा गोस्वामी लिखती हैं, "उन्हें बहुत करीब से जानकर लगा था कि वह माधू कभी नहीं बन सकते। माधू के साथ ही सारी आनंद की अनुभूति खत्म हो गई थी। एक-एक कर प्रियजनों से बिछुड़ने के कारण ही विश्वास में भी विश्वास नहीं रहा था मेरा। "[77] बेहद कम उम्र में मानसिक रूप से टूट चुकी इंदिरा गोस्वामी के जीवन का यह ऐसा समय था जब कुछ लोग सहानुभूति से उनका हाथ थामना चाहते थे। परंतु कुछ ऐसे पुरुष भी थे जो इस स्थिति का लाभ उठा कर उनके साथ संबंध बनाना चाहते थे। इन सभी घटनाओं का जिक्र इंदिरा गोस्वामी ने अपनी आत्मकथा 'आधा लेखार दस्तावेज' में किया है।

आत्मकथा में उनके जीवन का सन 1970 तक का ही अंश मिलता है जिसके अंत में वह लिखती हैं, "'मामरे धारा तारोवाल', 'अहिरन' आदि उपन्यास लिखते समय श्रमिकों के शिविर, वर्कसाईट के अनुभव, कैकोस बर्जोर से फिर मुंबई में मुलाकात और दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों का भ्रमण आदि की बहुत कहानियाँ थीं। दिल्ली की कहानी एक अलग नया अध्याय थी। "[78] 1971 में इंदिरा गोस्वामी ने दिल्ली विश्वविद्यालय के 'आधुनिक भारतीय भाषा विभाग' में असमिया का अध्यापन आरंभ किया। दिल्ली प्रवास के शुरूआती समय में वह रोशनआरा रोड के एक घर में अकेले रहा करती थीं। दिल्ली के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए इंदिरा गोस्वामी लिखती हैं,

"दिल्ली के नए और आधुनिक स्थानों, इमारतों आदि के प्रति मेरा कोई आकर्षण नहीं था, लेकिन इतिहास को अपने सीने में समेटे खंडहरों, मकबरों और किलों के प्रति मेरा अटूट आकर्षण था।"[79]

बहुआयामी व्यक्तित्व की स्वामिनी इंदिरा जी ने असम में शांति बहाली के अथक प्रयास किए। जिसके लिए उन्होंने सरकार तथा उल्फा में परस्पर संवाद कायम करवाने के लिए मध्यस्थ की भूमिका भी निभाई। उल्फा का पूरा नाम 'यूनाइटेड लिब्रेशन फ्रन्ट ऑफ असम' है। इसकी स्थापना 7 अप्रैल 1979 को परेश बरुआ के नेतृत्व में अरबिन्द राजखोवा, अनूप चेतिया तथा समीरन गोगोई इत्यादि ने शिबसागर में की। इस संगठन का उद्देश्य असम को स्वायत्त एवं संप्रभु राज्य बनाना था। शुरुआत में असम के तिनसुकिया और डिब्रूगढ़ में उल्फा के शिविरों की स्थापना की गई। परंतु उल्फा की हिंसक गतिविधियों को देखते हुए केंद्र सरकार द्वारा 1990 में इस संगठन पर प्रतिबंध लगा दिया तथा इसकी हिंसक गतिविधियों के विरुद्ध सैन्य कारवाही शुरू की गई। जिसके परिणामस्वरूप 1998 के बाद से बड़ी संख्या में उल्फा के सदस्यों ने सरकार के समक्ष आत्मसमर्पण शुरू किया। इंदिरा गोस्वामी ने 2005 में उल्फा तथा सरकार के बीच शांति वार्ता में मध्यस्थता करने का निर्णय लिया। इंदिरा गोस्वामी का मानना था कि लेखक को राजनीति से नहीं जुड़ना चाहिए। उसे हमेशा मानवता का साथ देना चाहिए, लेकिन वे अपने राज्य असम को शांत देखना चाहती थीं इसलिए उन्होनें शांति वार्ता के लिए मध्यस्थ बनना स्वीकार किया। इस शांति वार्ता के लिए सितंबर, 2005 में केंद्र सरकार की तरफ से 'पीपल्स कान्सलटेटिव ग्रुप' (pcg) कमेटी का गठन किया गया। कमेटी की तरफ से उल्फा से समझौते पर बात करने के लिए अथक प्रयास किए गए। परंतु इन प्रयासों के बावजूद उल्फा और भारत सरकार के बीच सीधी वार्ता संभव नहीं हो पाई। तिलोत्तमा मिश्रा लिखती हैं, "But all their efforts failed to initiate the much-expected direct talks between ULFA and the Government of India, and exactly a year after its formation, the PCG withdrew from the peace process when New Delhi announced the resumption of operations against the ULFA. Mamoni

was terribly disappointed."[80] शांति वार्ता के लिए प्रयासरत उल्फा के कुछ नेताओं को भी गहरा झटका लगा। उल्फा नेता अरबिन्द राजखोवा के शब्दों में, "It is Mamoni baideo who actually deserves the credit of bringing us into the peace process. It was she who, through sincere efforts, initiated the peace talks in 2005-06…Mamoni baideo felt strongly for the people and she saw how many of our innocent cadres were tortured to death, how the women in our villages felt totally unsafe during army operations. In the name of security and protection, what was being promoted was lawlessness."[81]

असमिया और अंग्रेजी साहित्यकार अरुणि कश्यप मानते हैं कि इंदिरा गोस्वामी का यह प्रयास विफल नहीं गया। इन प्रयासों से ही असमिया साहित्य में उग्रवादी लेखन को स्थान मिला और जनता उल्फा के आतंकवाद को छोड़ कर एक दूसरे पक्ष को समझने में समर्थ हुई। अरुणि कश्यप लिखते हैं, "Goswami's literary contribution to Assam's peace process didn't go uncontested. A politician said, mentioning her close connections with the militants, that Indira Goswami's real place was in "lock-up". Writers who I knew personally mocked her endeavour: "When did those Ulfas get time to write these novels and poems? While they were killing people? Another person tried to reason with me, "We don't need to read stuff written by murderers. There are better things to read." I think what made people uneasy was not the polarising debate in the press about the peace process, but the renewed interest in militant writing in Assam because of Goswami's efforts. People knew how to deal with polemics and screeds. They didn't know how to fight with fiction and poetry."[82]

पुरस्कार तथा सम्मान:

इंदिरा गोस्वामी को साहित्य के सर्वोच्च सम्मानों से प्रतिष्ठित किया जा चुका है जिनमें साहित्य अकादमी पुरस्कार(1983), असम साहित्य सभा पुरस्कार(1988), भारत निर्माण पुरस्कार(1989), कथा पुरस्कार(1993), अंतर्राष्ट्रीय जूरी अवार्ड(1997), अंतर्राष्ट्रीय तुलसी पुरस्कार(1999) तथा ज्ञानपीठ पुरस्कार(2000) इत्यादि प्रमुख हैं। नीदरलैंड सरकार की तरफ से मामोनी को सन 2008 में 'प्रिन्सिपल प्रिंस क्लाउड' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। एशिया महाद्वीप में इस सम्मान को प्राप्त करने वाली इंदिरा गोस्वामी प्रथम नागरिक थीं। इंदिरा गोस्वामी की रचनाओं में संपूर्ण असम अंचल के स्पंदन का अनुभव किया जा सकता है तथा इन रचनाओं द्वारा असम के बहुसांस्कृतिक समाज तथा इतिहास का स्पष्ट विवरण प्राप्त किया जा सकता है।

इंदिरा गोस्वामी ने कुछ रेडियो नाटकों की भी रचना की। वह अर्नेस्ट हेमिंग्वे की शैली से बहुत प्रभावित थीं और अपने रचना कर्म में उनका अनुसरण भी करती थीं। अपनी विशिष्ट लेखन-शैली के विषय में इंदिरा गोस्वामी का कहना था कि मैं अस्तित्ववाद, यथार्थवाद तथा अन्य कलात्मक और साहित्यिक आंदोलनों से परिचित हूँ परंतु मैंने स्वयं की सहज प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए समय के साथ अपनी एक अलग और विशिष्ट शैली विकसित की। "I know about existentialism, surrealism and other artistic and literary movement but I always followed my own instincts regarding writing and developed an individual style with the passage of time."[83] इंदिरा गोस्वामी ने हमेशा ही यह अनुभव किया कि असम की जनजातियों के व्यापक अध्ययन से काफी कुछ काल्पनिक साहित्य रचा जा सकता है।

लंबे समय तक बीमारी से जूझने के पश्चात 29 नवंबर 2011 की सुबह 7:45 को गुवाहाटी मेडिकल कॉलेज में इंदिरा गोस्वामी ने अंतिम श्वासें लीं। वे 69 वर्ष की थीं।

श्री रविशंकर रवि इंदिरा गोस्वामी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखते हैं, "मामोनी बाईदेउ का व्यक्तित्व हर किसी के लिए प्रेरणा का विषय है। इतना सहने के बावजूद उन्होंने जिस मुकाम को हासिल किया, वह अनुकरणीय है। उनका व्यक्तित्व दुविधाओं से भरा रहा। वह हमेशा कुछ नया गढ़ने के लिए प्रयासरत रहीं। उनकी योजना बोडो समुदाय, बागानों में काम करने वाले मजदूरों और उल्फा के संघर्ष पर उपन्यास लेखन की थी। जो पूरी नहीं हो सकी। सफलता की ऊँची उड़ानों के बावजूद उनकी सरलता हर किसी के लिए सीखने की चीज है। वह बिना किसी औपचारिकता के अंजान व्यक्ति से भी फोन पर बात करती थीं, मिलती थीं। उनका यह चरित्र ही उन्हें महान बनाता है। उनकी कमी हमेशा खलेगी। अलविदा बाईदेउ!"[84]

साहित्यकार अरुणि कश्यप ने इंदिरा गोस्वामी के दाह-संस्कार के लिए जुटी भीड़ को देख कर लिखा था कि कुछ ही लेखक होते हैं जिसे समाज के प्रत्येक वर्ग, उल्फा विद्रोहियों से लेकर मुख्यमंत्री तक-सभी का इतना स्नेह प्राप्त होता है, "Already, thousands of people have started flocking her funeral. Very few authors are so loved by people from all sections: from ULFA rebels to Chief Minister."

ख्यातिलब्ध अंग्रेजी साहित्यकार अमिताभ घोष ने अरुणि कश्यप की उपरोक्त टिप्पणी पर लिखा, " Reading this I was reminded of the day of Satyajit Ray's death-April 23, 1992-when all of Calcutta was plunged in mourning. I am sure that November 29, 2011 will be remembered in the same way in Guwahati."[85]

2.4- इंदिरा गोस्वामी : संपूर्ण कृतित्व

उपन्यास: चेनाबेर स्त्रोत 1972; नीलकंठी ब्रज 1976; अहिरण 1980; मामरे धरा तालोवार आरू दुखोन उपन्यास 1980; दंताल हाथीर उए खोवा हौदा 1988; तेज आरू धुलिरे धुसरितो पृष्ठ,

1994; दशरथिर खोज, 1999; छिन्न मस्तार मानुहतो 2001; थेंगफाखरी तहसीलदारेर तंबार तालोवार 2009

कहानी संग्रह: चिनाकी मरम(कहानी संग्रह) 1962**;** कईना(कहानी संग्रह) 1966**;** हृदय एक टा नदीर नाम(कहानी संग्रह) 1990**;** निर्वाचित गल्पो(कहानी संग्रह) 1998**;** प्रिय गल्पो(कहानी संग्रह) 1998**;** आभा गार्डनरेर अबेली, 2010

आत्मकथा: आधा लेखार दस्तावेज (1988), दस्ताबेजेर नुतोन पृष्ठ (2007)

कविता संग्रह: पेन एंड फ्लेश, 2008

जीवनी: महीयोशी कमला, 1995

अनुवाद: प्रेमचंद की कहानियों का हिंदी से असमिया में अनुवाद, 1975; जातक कथा, 1996

इंदिरा गोस्वामी द्वारा रचित साहित्य का अनुवाद हिंदी के अतिरिक्त अन्य विविध भाषाओं यथा अंग्रेजी, उड़िया, नेपाली, तेलगु, बंगला बोडो, कन्नड़, तमिल तथा उर्दू इत्यादि में भी हुआ है। इंदिरा गोस्वामी की रचनाओं को पढ़ कर मन-मष्तिष्क में जो छवि उभरती है वह ऐसी संवेदनशील किन्तु सशक्त महिला की है जिसकी हर प्रतिकूल परिस्थिति में भी जीवन के प्रति अटूट आस्था है तथा इंदिरा गोस्वामी की रचनाओं के प्रोटोगानिस्ट पात्रों में इंदिरा गोस्वामी की यही अटूट आस्था परिलक्षित होती है।

इंदिरा गोस्वामी द्वारा सृजित ग्रंथों का विवरण निम्नवत है।

इंदिरा गोस्वामी का रचनात्मक कौशल उपन्यासों में अपने शिखर पर रहा है। इंदिरा गोस्वामी के उपन्यासों के मूल स्रोत में समाज में फैली अमानवीयता तथा उसका लगातार हो रहा नैतिक पतन होता है। परन्तु समाज में व्याप्त तमाम बुराइयों के बावजूद प्रेम तथा मानवता की तलाश ही इंदिरा गोस्वामी की रचनाओं का ध्येय रहा है। इंदिरा गोस्वामी के लेखन का यह सशक्त पक्ष रहा है कि

मातृभाषा असमी में लिखे होने के बावजूद यह भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करता है। इंदिरा गोस्वामी द्वारा रचित उपन्यासों का विवरण निम्नवत है।

चेनाबेर स्रोत: (1972)

(चेनाब का स्रोत)

'चेनाबेर स्रोत' इंदिरा गोस्वामी द्वारा रचित प्रथम उपन्यास है जिसका कालखंड साठ के दशक का है। साठ के दशक में मजदूरों के हित में काम करने के लिए उनकी कोई अलग यूनियन नहीं हुआ करती थी। साईट के जोखिम भरे कार्यों के दौरान होने वाली दुर्घटनाओं में होने मृत्यु का कोई मुआवज़ा नहीं मिलता था। श्रमिक वर्ग भी मौलिक नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं था। कश्मीर में पति के साथ कन्स्ट्रक्शन साईट पर रहने के दौरान प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर इंदिरा गोस्वामी ने 'चेनाबेर स्रोत' की रचना की थी। कन्स्ट्रक्शन साइट्स का यथार्थ प्रस्तुत करने के साथ ही यह उपन्यास स्त्री पात्र सोनी, पार्वती, राघम्मा के माध्यम से महिला श्रमिकों के जीवन संघर्षों को चित्रित करता है। उपन्यास की नायिका सोनी संवेदनशील तथा परिश्रमी स्त्री है। कालाहांडी में पड़े अकाल के कारण प्रेमी शिवन्ना उसे छोड़ कर काम की तलाश में शहर आ जाता है। सोनी बाद में गौरीशंकर से विवाह करती है परंतु वर्कसाइट की दुर्घटना में गौरीशंकर की मृत्यु हो जाती है। सोनी, गौरीशंकर के बूढ़े पिता रामवीर को लेकर कश्मीर में चंद्रभागा नदी के ऊपर बन रहे पुल निर्माण कार्य में महिला श्रमिकों के दल से जुड़ जाती है। गर्भवती होने के बावजूद वर्कसाइट में कठिन श्रम करने वाली सोनी के माध्यम से इंदिरा गोस्वामी ने महिला श्रमिकों की त्रासदी को चित्रित किया है। अवसादग्रस्त अवस्था में लिखे गए उपन्यास की कमियों को रेखांकित करते हुए बेहद साफ़गोई से इंदिरा गोस्वामी लिखती हैं, "मन की बिखरी अवस्था में पूरे किए गए इस उपन्यास की कहानी बहुत प्रभावशाली या सशक्त चाहे न बन पड़ी हो, लेकिन इसकी पृष्ठभूमि में श्रमिकों

का जीवन, साईट की कार्यपद्धति, वहां के शटरिंग और कंक्रीटिंग से लेकर क्रेन, गार्डर, जेनरेटर और वाईब्रेटर आदि तक हर चीज की मैंने जीवंत तस्वीर उतारने का प्रयास जरूर किया है।"[86]

नीलकंठी ब्रज: (1976)

नीलकंठी ब्रज उत्तर प्रदेश के मथुरा-वृन्दावन में मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से रहने वाली विधवा राधेश्यामियों की करुण गाथा पर आधारित है। वृंदावन में एक शोधार्थी के रूप में रहने के दौरान संकलित किए गए अनुभवों के आधार पर इंदिरा गोस्वामी ने 'नीलकंठी ब्रज' की रचना की। यह उपन्यास सत्तर के दशक में वृंदावन में रहने वाली, भजन गाती, भीख मांगती तथा जीवन से मुक्ति की कामना करती उन हतभागनी विधवाओं के त्रासदपूर्ण जीवन का दस्तावेज है जो उत्सवों और आयोजनों के अतिरिक्त श्री कृष्ण की जन्मस्थली, वृंदावन के दूसरे पक्ष पर भी प्रकाश डालता है। उपन्यास 'नीलकंठी ब्रज' में मुख्यतः पूर्वी बंगाल से वृन्दावन आई विधवाओं की दयनीय स्थिति का बहुत मार्मिक चित्रण किया गया है। ऐसी विधवाओं को ब्रज में राधेश्यामी की संज्ञा दी जाती है। भारतीय संस्कृति में यह मान्यता है कि हरिधाम में मरने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और मुक्ति की इच्छा में विधवाएं यहाँ स्वेच्छा से आती हैं परंतु इंदिरा गोस्वामी ने इस सत्य को जाना कि सौ में से अस्सी प्रतिशत विधवाएं यहाँ गरीबी और पारिवारिक यातनाओं से तंग होकर आई थीं। बीस फीसदी ही विधवाएं ऐसी थीं जो स्वेच्छा से वृन्दावन आती थीं। इन राधेश्यामियों की विषम स्थिति का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि पूरे दिन के भजन कीर्तन के पश्चात यह दिन भर का एक रुपया ही कमा पाती थीं। उपन्यास का काल खंड 1970 से 1972 के बीच का है। अपने परिवारों से निर्वासित इन विधवाओं को मरने के बाद खुद के दाह संस्कार की चिंता सताए रहती थी जिसका लाभ मंदिर के धूर्त पंडे उठाते थे। उपन्यास के मुख्य पात्रों के रूप में सौदामिनी, शशिप्रभा और मृणालिनी के चरित्र उभर कर आते हैं। सौदामिनी, रायचौधुरी और अनुपमा की बेटी है जो कम उम्र में ही विधवा हो गई। माता-पिता एक ईसाई युवक से उसका संबंध तुड़वाने और उसे मानसिक शांति दिलवाने के लिए हरिधाम वृंदावन ले आते हैं। वृन्दावन में कंकाल जैसी देहों वाली

राधेश्यमियों को देख कर सौदामिनी भय से काँप उठती है। कोटरों में धंसी आँखों वाली एक वृद्ध विधवा सौदामिनी से कहती है, "आवश्यक होने पर कांच मंदिर तथा रंग जी के फाटक के बाहर बैठ कर हम लोग भीख मांगती हैं। कभी प्रसाद की उम्मीद में मंदिर की सीढ़ियों पर बैठे-बैठे रात गुजार देती हैं।"[87] सौदामिनी अपना जीवन निरीह राधेश्यामियों की तरह नहीं काटना चाहती है। उपन्यास की अन्य प्रमुख पात्र शशिप्रभा भी कम उम्र की विधवा है। आर्थिक तथा शारीरिक सुरक्षा के लिए शशिप्रभा, बिहारी मोहन कुंज के पुजारी आलमगढ़ी के साथ रहने के लिए बाध्य है। शशिप्रभा जैसी स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। शशिप्रभा अपनी इस स्थिति के विषय में कहती है- "युगल उपासना के नाम पर ब्रज में अनेक स्त्रियाँ पुरुषों के साथ रह रही हैं। इस पृथ्वी पर जिसका कोई धनी-धौरी न हो, अन्धकार में डूबे हुए भविष्य की आशंका ने जिसे किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया हो, उसके पास इसके सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं।"[88] बिहारी मोहन कुंज मंदिर के मालिक कृष्णकांत ठाकुर की 40 वर्षीय अविवाहित पुत्री मृणालिनी भी उपन्यास के मुख्य पात्रों में से एक है। नीलकंठी ब्रज इंदिरा गोस्वामी के ब्रज में प्रत्यक्ष अनुभवों पर आधारित उपन्यास है। राधेश्यामियों की करुण गाथा वर्णित करने के साथ ही यह उपन्यास ब्रज के पारंपरिक त्योहारों, महोत्सवों यथा लठ्ठोत्सव, नंदोत्सव, गोदम्मा की शोभायात्रा तथा कृष्णजन्माष्टमी इत्यादि का बहुत ही रोचक एवं जीवंत विवरण प्रस्तुत करता है। वृंदावन किस प्रकार अपनी प्राचीन परम्पराओं और वैभवशाली अतीत को भूलता जा रहा है, यह भी उपन्यास में दिखाया गया है। वृंदावन में विधवा राधेश्यामियों के हर स्तर पर हो रहे शोषण को चित्रित करने के साथ ही इंदिरा गोस्वामी ने वृंदावन को सभी पक्षों को पाठकों के समक्ष रखा है। इन्हीं खूबियों के कारण 'नीलकंठी ब्रज' एक साहित्यिक कृति होने के साथ ही सातवें और आठवें दशक के वृंदावन का ऐतिहासिक दस्तावेज भी बन जाता है इस संदर्भ में अमृता प्रीतम लिखती हैं, " 'The City Of God' the creative writer in Indira will stand supreme. On the basis of research and scholarship she has depicted the life of Brindaban in all its joys and sorrows.

It will come to have a unique value as a historical document apart from its being a piece of great literary merit."[89]

अहिरण: (1980)

'अहिरण' उपन्यास का कथानक मध्यप्रदेश की अहिरण नदी पर एक्वेडक्ट निर्माण कार्य में लगी कंपनी के कर्मचारियों के जीवन के इर्द-गिर्द बुना गया है। इंदिरा गोस्वामी ने इस ठेका कंपनी के कार्य में लगे सभी कर्मचारियों के जीवन का बहुत सूक्ष्म निरीक्षण किया है जिसमें इंजीनियर, मैनेजर, चपरासी, रसोइया, धोबी, ट्रक-ड्राइवर तथा मजदूर सभी शामिल हैं। वर्क साईट पर काम करने वाली श्रमिक महिलाओं का कंपनी के कर्मचारियों द्वारा होने वाले शोषण का भी उपन्यास में मार्मिक वर्णन है। छत्तीसगढ़ में अहिरण नदी पर निर्माणाधीन बांध के कार्य में जुटी कंपनी के कर्मचारियों और कंपनी के अंतर्गत काम करने वाले श्रमिकों के जीवन पर आधारित उपन्यास 'अहिरण' इंदिरा गोस्वामी की संवेदनशील और विश्लेषक दृष्टि का परिचायक है। कंपनी के कर्मचारियों का शोषक दृष्टि से चित्रण करने के साथ ही उनके मानवीय पक्षों को भी उजागर किया गया है। उपन्यास के आरंभ में ही यूनियन द्वारा भड़काने पर मजदूरों के हड़ताल पर जाने का वर्णन किया गया है तथा अन्य प्रदेशों की तुलना में मध्यप्रदेश में श्रमिकों की कम मजदूरी का विषय उठाया गया है। "मध्यप्रदेश में मजदूरों की स्थिति और भी विकट थी क्योंकि मध्यप्रदेश में 1972 तक मजदूरी की दर जम्मू और कश्मीर, दिल्ली या उत्तरप्रदेश की दर से दयनीय रूप से कम थी।"[90] थोड़े से भात और प्याज के लिए गरीब मजदूर, मजदूरी के अतिरिक्त अपने मालिकों के कपड़े तक धुलने को तैयार हो जाते हैं। कंस्ट्रक्शन साइट्स पर महिला मजदूरों की स्थिति और भी दयनीय थी। साइट्स पर अस्थाई रूप से नियुक्त अधिकारी इन महिला मजदूरों का मनमाना शोषण करते हैं। ब्रांच मैनेजर हर्सुल और धोबी अजीज मियां इस उपन्यास के बहुत संवेदनशील पात्र हैं। निर्मला, हर्सुल के मित्र पांडे की विधवा है। इंदिरा गोस्वामी ने निर्मला के रूप में एक बेबाक और आधुनिक स्त्री पात्र का सृजन किया है। निर्मला अपनी शर्तों पर जीवन जीना चाहती है। सत्तरवें दशक के

प्रारंभ में 'अहिरण' पर शुरू हुआ बांध बनाने का कार्य 1975 के नवंबर माह में पूरा होता है। इस पूरी अवधि में कंस्ट्रक्शन साईट की प्रत्येक हलचल का इंदिरा गोस्वामी ने जीवंत खाका खींचा है। हर्सुल, अजीज मियां, निर्मला इत्यादि मुख्य पात्रों के अतिरिक्त जीवराम दास, टाईमकीपर दुर्योधन ठाकुर तथा महेश ठाकुर जैसे अवसरवादी पुरुष पात्रों का चयन भी इंदिरा गोस्वामी की विश्लेषक दृष्टि का परिचायक है। बाँध निर्माण का कार्य समाप्त होने पर उजड़ी हुई वर्क साईट का बहुत ही जीवंत चित्रण किया गया है। "अहिरण पर बांध का कार्य ख़त्म होने के साथ ही साथ कैंप भी उजड़ने लगा। कर्मचारी कम हो गए। झोपड़े खाली होने के साथ ही वहां घूमने वाले दलाल, पुरानी लकड़ी, पुराने शटरिंग प्लेट, पुराने पीपे, छतों के टुकड़े आदि हथियाने लगे। वर्कसाईट एकाएक कब्रिस्तान जैसा बन गया। [91]

मामरे धरा तारोवाल: (1980)

(जंग लगी तलवार)

'मामरे धरा तारोवाल' उपन्यास के लिए इंदिरा गोस्वामी को 'साहित्य अकादेमी' से पुरस्कृत किया गया था। 'मामरे धरा तारोवाल' उपन्यास उत्तर प्रदेश के रायबरेली में सई नदी के ऊपर एक्वेडक्ट निर्माण की प्रक्रिया में लगी ठेका कंपनी के शोषण के विरोध में मजदूरों द्वारा की गई लंबी हड़ताल के कथानक पर आधारित है। इंदिरा गोस्वामी इस हड़ताल की असफलता के मूल में मजदूर नेताओं द्वारा पैसे के लालच में किए गए विश्वासघात और उस समय मजदूर संगठनों के न होने के कारण आपस में एकता के अभाव को देखती हैं। 'दैनिक असम' के संपादक कीर्तिनाथ हजारिका ने उपन्यास की भूमिका में इंदिरा गोस्वामी की इस अर्थ में विशेष रूप से प्रशंसा की है कि इंदिरा गोस्वामी ने असम के बाहर के क्षेत्रों के बारे में भी पूरी निष्ठा से लिखा है। इस उपन्यास के लेखन से सम्बंधित तथ्यों को जुटाने के लिए इंदिरा गोस्वामी ने कड़ा परिश्रम किया। इंदिरा गोस्वामी स्वयं

कन्स्ट्रक्शन साईट पर रहीं। उन्होंने मजदूरों की हड़ताल से सम्बंधित जरुरी दस्तावेजों का गहन अध्ययन किया। इंदिरा गोस्वामी ने अपने एक साक्षात्कार में इस उपन्यास के विषय में कहा,

" 'मामरे धरा तारोवाल' को पूरा करने के लिए मैं रायबरेली की उस साईट पर छह महीने रही और सब कुछ अपनी आँखों से देखा । मैंने बेबस मजदूरों को अपने भ्रष्ट नेताओं द्वारा दिग्भ्रमित होते देखा है जो मालिकों के आगे जूते चटकाते फिरते थे। सांगठनिक रूप से उन्हें मजबूत और ईमानदार होने की जरूरत है।" [92] हड़ताल जरूर असफल हुई परंतु यह श्रमिकों के बीच आवश्यक चेतना जागृत कर सकी। 'चेनाबेर स्रोत' और 'मामरे धरा तारोवाल' दोनों ही उपन्यासों में कन्स्ट्रक्शन कंपनियों के अंतर्गत काम करने वाले प्रवासी श्रमिकों का दुःख और समस्याओं का वर्णन है परंतु 'चेनाबेर स्रोत' में मजदूर यूनियनों का उल्लेख नहीं है जबकि 'मामरे धरा तारोवाल' की पृष्ठभूमि में यूनियनों द्वारा शुरू की गई हड़ताल के साथ ही कालांतर में इन मजदूर संगठनों के नेताओं के विश्वासघात से हड़ताल की असफलता का विश्लेषणपूर्ण वर्णन है। उपन्यास की शुरुआत में हड़ताल की सफलता के लिए मजदूरों को आशान्वित और उत्साहित दिखाया गया है। इस आशा और उत्साह की परिणिति मजदूर नेताओं के विश्वासघात और ठेका कम्पनी के मालिकों के षडयंत्र और धूर्तता द्वारा किस प्रकार निराशा, निरुत्साह और अवसाद में होती है इसका बहुत ही मार्मिक चित्रण किया गया है। उपन्यास द्वारा इंदिरा गोस्वामी एक बहुत बड़ा प्रश्न उठाती हैं कि, क्या मजदूर यूनियनों के गठन से ही गरीब मजदूरों की समस्याएं हल हो सकती हैं? जबकि इन यूनियनों के नेता भी कंपनी और मिल मालिकों की तरह ही साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शोषकों की श्रेणी में आते हैं। 'मामरे धरा तारोवाल' की कथावस्तु मात्र एक ही पात्र विशेष के इर्दगिर्द नहीं बुनी गई है वरन यह संपूर्ण श्रमिक वर्ग के अपमान और समस्याओं की कहानी है। फिर भी उपन्यास में नारायणी का पात्र बहुत ही सशक्त और प्रभावशाली है। इसके अतिरिक्त बसुमती, शम्भू पासवान और लीछु इत्यादि पात्र भी पाठकों के हृदय पर गहन प्रभाव छोड़ते हैं। ज्ञानपीठ से पुरस्कृत प्रथम असमिया साहित्यकार बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य 'मामरे धरा तारोवाल' के संबंध में लिखते हैं, "After reading

Goswami's Mamre Dhara Tarowal I heard a stern outcry of realism echoing in my ears. Though I read it long ago, I still remember those tortured images."[93]

दाँताल हाथीर उए खोवा हौदा: (1988)

(दक्षिणी कामरूप की गाथा)

असम के वैष्णव सत्रों की पृष्ठभूमि पर आधारित इस उपन्यास की समयावधि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल से शुरू होकर भारत के ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता प्राप्ति के बीच के कालखंड में सिमटी हुई है। वैष्णव सत्रों के भीतर स्त्रियों का जीवन किस प्रकार धार्मिक संस्कारों, रीति-रिवाजों के बंधन में जकड़ा रहता है, इसका बेहद ममस्पर्शी वर्णन उपन्यास द्वारा किया गया है। उपन्यास की शुरुआत उस कालखंड से होती जब लगभग अस्सी प्रतिशत असमवासी अफ़ीमखोरी की चपेट में थे। असम का तत्कालीन समाज धार्मिक अंधविश्वासों की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। इंदिरा गोस्वामी द्वारा रचित यह कालजयी उपन्यास विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक मुद्दों का सूक्ष्मता से विश्लेषण करता है यथा वैष्णव सत्रों में विधवाओं का नारकीय जीवन, सत्रों की गिरती हुई प्रतिष्ठा, तत्कालीन कम्युनिस्ट गतिविधियाँ इत्यादि। उपन्यास का कथानक वैष्णव सत्र की तीन विधवा दामोदरिया गोसाईंनों सारु गोसाईन, दुर्गा तथा गिरिबाला के जीवन के इर्द-गिर्द बुना गया है। जहाँ दुर्गा ने वैधव्य के संत्रास को भाग्य का लिखा मान कर स्वीकार कर लिया है वहीं सारू गोसाईन तथा गिरिबाला परम्पराओं के विरुद्ध जाकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व की खोज में प्रयासरत हैं। दुर्गा बड़े सत्राधिकार की बहन है जिसे उसके पति की मृत्यु के पश्चात ससुराल वालों ने जमीन-जायदाद और उसके अधिकारों से बेदखल कर मायके वापस भेज दिया है। उपन्यास में दुर्गा की मानसिकता स्त्रियों की पारंपरिक जकड़न को दर्शाती है। दुर्गा को विश्वास है कि मृत पति की खडाऊं पूजने तथा पुरी, प्रयाग, काशी के दर्शन से ही कठिन वैधव्य जीवन से उसकी मुक्ति सुनिश्चित हो पाएगी। सत्र

की दूसरी विधवा सारु गोसाईन परंपराओं में बंधी होने के बावजूद भी आर्थिक आत्मनिर्भरता का मार्ग चुनती है। पति की मृत्यु के पश्चात वह जमीन-जायदाद और यजमानों की जिम्मेदारी अपने हाथों में ले लेती है। उपन्यास का सबसे सशक्त और प्रभावशाली पात्र गिरिबाला का है। गिरिबाला सत्राधिकार की पुत्री है जो पति की मृत्यु के पश्चात मायके आ जाती है। खोखली मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह का स्वर मुखर करती हुई गिरिबाला, जर्मनी से आए यूवा शोधार्थी मार्क के प्रति अपने आकर्षण को पश्चाताप का विषय नहीं मानती। गिरिबाला कर्मकांडों और शुद्धिकरण के पाखंड को त्याग कर आत्मदाह का मार्ग चुनती है। गिरिबाला का आत्मदाह पितृसत्ता के वर्चस्ववाद के विरुद्ध विद्रोह का अन्यतम उदाहरण है। 'दंताल हाथीर उने खोवा हौदा' एक साहित्यिक धरोहर होने के साथ ही असम के सत्रों से जुड़ी परंपराओं का एक विश्वसनीय सांस्कृतिक दस्तावेज भी है। इस उपन्यास का हिंदी अनुवाद 'दक्षिणी कामरूप की गाथा' नाम से उपलब्ध है। वैष्णव सत्रों को पूर्वोत्तर समाज की प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता है। इस उपन्यास में इन प्रतिष्ठित वैष्णव सत्रों के भीतर दामोदरिया गोसाइनों पर लगे प्रतिबंधों का विवरण वास्तविकता के धरातल पर दिया गया है। भीष्म साहनी 'दक्षिणी कामरूप की गाथा' के संबंध में लिखते हैं, "This novel does not merely tell us the story of these characters. It has a wide spread and spans the society. Its reading is an unforgettable experience. Whenever my mind wanders back to the sombre, penumbral and horrid atmosphere, I feel overpowered by awe."[94]

तेज आरू धुलिरे धुसरितो पृष्ठ- (1994)

(रक्तरंजित और धूल-धूसरित पृष्ठ)

यह उपन्यास इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद हुए सिख विरोधी दंगों की विभीषिका पर आधारित है। उपन्यास में दिल्ली विश्वविद्यालय की युवा अध्यापिका द्वारा सिख विरोधी दंगों की आँखों देखी

विभीषिका का मार्मिक वर्णन किया गया है। इस उपन्यास को डायरी विधा के अंतर्गत भी रखा जा सकता है। प्रस्तुत उपन्यास में इंदिरा गोस्वामी का व्यक्तित्व उपन्यासकार की भूमिका से ऊपर उठ कर एक कर्तव्यनिष्ठ, संवेदनशील, सजग नागरिक के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। 'तेज आरु धूलि धूसरित पृष्ठो' में जहां एक ओर 1984 के सिख विरोधी दंगों का मार्मिक वर्णन है वहीं दूसरी ओर दिल्ली के इतिहास का भी व्यापक वर्णन किया गया है। 'तेज आरु धूलि धूसरित पृष्ठों' में फिक्शन और यथार्थ के बीच की रेखा बहुत धूमिल है। पाकिस्तान के प्रसिद्ध लेखक इंतजार हुसैन उपन्यास के विषय में लिखते हैं, "यदि यह फिक्शन है तो भी यह यथार्थ के साथ इसप्रकार एकाकार किया गया है कि तथ्य और कल्पना के बीच कोई रेखा खींचना बहुत मुश्किल है। इस हिसाब से भारत में अल्पसंख्यकों के भाग्य को समझा जा सकता है परंतु इस पर गर्व करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि पाकिस्तान में भी अल्पसंख्यकों की स्थिति इससे बेहतर नहीं है। आतंकवाद के इस बढ़ते दौर में इनकी स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। अंतर सिर्फ इतना है कि पाकिस्तान में इस दर्द को बयां करने के लिए कोई इंदिरा गोस्वामी नहीं है।"[95] उपन्यास इन रहस्यों को भी पर्त दर पर्त खोलता नजर आता है कि किस प्रकार लोकतांत्रिक भारत में आज भी साम्राज्यवादी ताकतों ने अपना विस्तार कर रखा है। स्वर्णमंदिर के परिसर में आतंकवादी गतिविधियों के फलस्वरूप पंजाब, अटवाल के डाईरेक्टर जनरल को परिसर के भीतर ही गोलियों से भून दिया गया। अमृतसर, स्वर्णमंदिर की इन गतिविधियों का सीधा असर दिल्ली पर पड़ा जहां हर गली, कूचे में पुलिस के छापे पड़ने लगे। "दिल्ली के सराय रोहिल्ला, रानी झांसी मार्ग, किंग्सवे कैम्प इत्यादि जगहों पर सिखों को बसों से उतार कर तलाशी ली जाती।"[96] 4 जून 1984 को ऑपरेशन ब्लू स्टार के तहत भारतीय सेना अमृतसर के स्वर्ण मंदिर परिसर में प्रवेश कर चुकी थी, जिसका असर दिल्ली में भी दिखाई दे रहा था। "The Delhi sky was overcast, clouds like thick black ashes on a cremation ground. The red sun seemed determined to drink the blood of many people."[97] इस उपन्यास के विषय में अपने एक साक्षात्कार में

इंदिरा गोस्वामी कहती हैं, "इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुए सिख दंगों की विभीषिका की मैं आँखों देखी गवाह हूँ। सेंट स्टीफंस कॉलेज के दो असमी छात्रों के साथ मैंने दंगा प्रभावित क्षेत्रों का निरीक्षण किया। जहांगीरपुरी तथा अन्य कुछ स्थानों का भयानक दृश्य था। घरों को जला दिया गया था और काफी लूटपाट भी हुई थी। उपन्यास-लेखन से पूर्व मैंने इन सभी तथ्यों तथा संबंधित दस्तावेजों का गंभीर अध्ययन किया।"[98]

छिन्न मस्तार मानुहतो: (2001)

(छिन्नमस्ता)

भारत के पूर्वोत्तर में असम में अवस्थित देवीपीठ कामख्या की पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में मंदिर में होने वाले बलिप्रथा और कर्मकांडों के प्रति विरोध दर्ज किया गया है। लगभग दो हजार साल पुराना यह मंदिर प्राचीन काल से ही आस्था और सम्मान का केंद्र रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह तथ्य भी सामने आता है कि स्थानीय अहोम शासकों के अतिरिक्त मुगल, बर्मी तथा ब्रिटिश सरकार ने भी मंदिर के विधि-विधानों में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। उपन्यास के लिए इंदिरा गोस्वामी को तथाकथित मठाधीशों की भारी आलोचना का सामना भी करना पड़ा था। उपन्यास के प्रमुख पात्रों में से एक जटाधारी के माध्यम से कामख्या मंदिर के प्रांगण में बलि प्रथा को रोकने के लिए एक मुहिम चलाई जाती है। यह उपन्यास फिक्शन की श्रेणी में आता है परंतु अधिकांश पात्रों का चयन वास्तविक जीवन से किया गया है। इस उपन्यास से सम्बंधित सामग्री संकलन के लिए इंदिरा गोस्वामी काफी दिनों तक कामख्या मंदिर प्रांगण में रही थीं। जटाधारी के पात्र का चयन उन्होंने ऐसे ही तपस्वियों के आधार पर किया था जो मंदिर प्रांगण में वर्षों रहकर साधना करते हैं। इंदिरा गोस्वामी अपने अधिकांशतः पात्रों का चयन वास्तविक जीवन से करती थीं। 'छिन्नमस्ता' की डोरोथी ब्राउन के पात्र निर्माण के समय उनके मष्तिष्क में आर्थर ब्राउन की पत्नी की छवि थी। आर्थर ब्राउन उनके पिता के गुरू तथा कॉटन कॉलेज के

प्रधानाध्यापक थे जिनके एक खासी महिला से सम्बन्ध थे। आर्थर ब्राउन द्वारा उनके पिता को लिखे गए कई पत्रों के माध्यम से उन्होंने ब्राउन की पत्नी की मानसिक पीड़ा का अनुभव किया था। यह उपन्यास धारावाहिक रूप में सर्वप्रथम असमिया पत्रिका 'गरीयषी' में प्रकाशित हुआ था और प्रकाशन के साथ ही वह मंदिर से जुड़े साधू-सन्यासियों और हिंदू धर्म के प्रचारकों के कोपभाजन की भी पात्र बनीं क्योंकि तथाकथित मठाधीश पशुबलि को धार्मिक संस्कारों का अभिन्न अंग मानते हैं और इनके अनुसार पशुबलि का विरोध करने का अर्थ धार्मिक मान्यताओं का विरोध करना था। इंदिरा गोस्वामी के अनुसार उपन्यास के प्रकाशन के बाद भले ही उनका विरोध हुआ हो परंतु नई पीढ़ी के लगभग 75% लोगों ने इस धार्मिक कुसंस्कार के विरोध में उनका साथ दिया था।

थेंगफाखरीर तहसीलदारेर तांबार तारोवाल: (2009)

(थेंगफाखरी तहसीलदार की ताँबे की तलवार)

इंदिरा गोस्वामी का अंतिम उपन्यास बोडो स्वतंत्रता सेनानी थेंगफाखरी की शौर्य गाथा है जिन्हें कोलोनियल असम की पहली महिला तहसीलदार भी माना जाता है। प्रस्तुत उपन्यास द्वारा इंदिरा गोस्वामी ने भारत की पहली महिला तहसीलदार थेंगफाखरी के चरित्र को लोककथाओं तथा लोकगीतों के माध्यम से पुनर्जीवित किया है जिसे इतिहासकारों द्वारा भुला दिया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निचले असम की पृष्ठभूमि पर आधारित इस उपन्यास ने अपने प्रकाशन के साथ ही कई महत्वपूर्ण बिंदुओं पर ध्यान आकर्षित किया था। थेंगफाखरी से पूर्व बोडो परिवेश से किसी महिला स्वतंत्रता सेनानी के नाम का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता है। इंदिरा गोस्वामी द्वारा थेंगफाखरी का साहित्यिक पुनर्जन्म असम के सामाजिक और राजनैतिक दोनों ही पक्षों से एक महत्वपूर्ण कदम था। जब असम में सामाजिक, राजनीतिक ऊथल- पुथल के बीच स्थानीय लोगों द्वारा बोडोलैंड की मांग आंदोलन का रूप ले रही थी और 'डिवाइड असम फिफ्टी- फिफ्टी' का नारा चारों ओर गूंज रहा था , उस समय इंदिरा गोस्वामी ने सच्चे साहित्यकर्मी का दायित्व निभाते

हुए दोनों भाषाओं और संस्कृतियों के बीच सेतु बंधन का कार्य किया। बोडो क्रांतिकारी थेंगफाखरी के अस्तित्व को प्रकाश में लाने के लिए इंदिरा गोस्वामी को सामग्री के संदर्भ में बहुत मुश्किलों का सामना करना पड़ा था क्योंकि बोडो जनजाति के जीवन, रहन-सहन तथा सांस्कृतिक, सामाजिक, और राजनैतिक पक्ष को जानने-समझने के स्रोत बहुत सीमित हैं। उपन्यास से संबंधित सामग्री संकलन के लिए इंदिरा गोस्वामी ने निचले असम के बिजनी राज्य का दौरा किया था जहाँ थेंगफाखरी जीवनपर्यंत रही थीं। 'बोडो साहित्य सभा' द्वारा इस कार्य के लिए उनकी यथासंभव सहायता की गयी थी। इसी दौरान वह, थेंगफाखरी से प्रत्यक्ष रूप से मिल चुके, बिजनी के ही एक वृद्ध बतीराम बोडो से भी मिली थीं। उपन्यास द्वारा थेंगफाखरी के जीवन के तीन सालों(1857 से 1859) को चित्रित किया गया है। संपूर्ण उपन्यास दस अध्यायों में विभक्त है। उपन्यास के पहले अध्याय 'स्वेज नहर' में वह एक वफादार ब्रिटिश कर्मचारी के रूप में कार्यरत दिखाई गई हैं। कप्तान हार्डी और कप्तान मैकलिन्सन तथा दादा त्रिभुवन बहादुर की सहायता से थेंगफाखरी घुड़सवारी तथा तलवारबाजी में निपुणता प्राप्त करती है। जंगल में आदमखोर शेर को मार गिराने की वीरता के परिणामस्वरूप उसे इजारदार से तहसीलदार के पद पर प्रोन्नत कर दिया जाता है। बाद के कुछ वर्षों में बदलती हुई परिस्थितियों से वह कोलोनियल शासन के विरुद्ध होने वाली क्रांतिकारी गतिविधियों में शामिल होने के लिए बाध्य हो जाती हैं।

कहानी संग्रह:

इंदिरा गोस्वामी की कहानियों में संपूर्ण असम अंचल के स्पंदन का अनुभव किया जा सकता है तथा इन कहानियों द्वारा असम के बहुसांस्कृतिक समाज तथा इतिहास का स्पष्ट विवरण प्राप्त किया जा सकता है। इंदिरा गोस्वामी ने बहुत छोटी उम्र से ही लेखन कार्य शुरू कर दिया था। इंदिरा गोस्वामी की प्रारंभिक कहानियों का संरक्षण नहीं हो पाया है। वे कहती थीं कि उनकी कहानियों की संख्या 150 से अधिक होगी। उनका प्रथम कहानी संग्रह 'चिनाकी मरम' मात्र तेरह वर्ष की आयु में 1962 में प्रकाशित हुआ था। इस कहानी संग्रह में कुल 11 कहानियाँ संकलित हैं। कहानी

संग्रह 'कईना'(1962) में संकलित कहानियों की संख्या 10 हैं। कहानी संग्रह 'हृदय एक नदीर नाम'(1988) में कुल 7 कहानियाँ संकलित हैं। इंदिरा गोस्वामी की अधिकांश लोकप्रिय कहानियों के मूल में पीड़ा और वेदना की हृदयस्पर्शी अनुभूति है, परंतु इस अनुभूति की परिणिति निराशा या अवसाद में नहीं होती बल्कि यह कहानियाँ सामाजिक कुरीतियों, खोखली मान्यताओं जो समाज में स्त्रियों के शोषण का मूल कारण हैं, पर एक व्यंग्य करती हुई प्रतीत होती हैं। इंदिरा गोस्वामी की 'संस्कार', 'मोहभंग', 'एक अविस्मरणीय यात्रा', 'देवीपीठ का रक्त', 'परसू का कुआँ' इत्यादि कहानियों में जहाँ एक ओर रूढ़िगत मान्यताएँ, मर्मभेदी गरीबी, रास्ते से भटके नौजवानों का सरकार के प्रति विद्रोह, इत्यादि समस्याएँ हैं वहीं दूसरी ओर हर कहानी अपनी-अपनी परिणिति में कुछ ऐसे अनुत्तरित प्रश्नों को छोड़ जाती है जो एक जिज्ञासु पाठक के हृदय में उथल पुथल मचा देते हैं। इंदिरा गोस्वामी की कहानियाँ मानवीय संवेदनाओं के सूक्ष्म तंतुओं से बुनी हुई प्रतीत होती हैं जो कथ्य और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट होती हैं। सहानुभूति की अपेक्षा स्वानुभूति के आधार पर लिखी गई अधिकाँश कहानियों से पाठक हृदय का जुड़ाव महसूस करते हैं। समाज की विद्रूपताओं को उघाड़ती इन कहानियों के अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर एक बेहतर समाज की नींव रखने में सहायक हो सकते हैं। संक्षेप में इंदिरा गोस्वामी की कहानियाँ मानवीय संवेदनाओं के भिन्न-भिन्न आयामों का लेखा-जोखा हैं जिनसे असम के सामाजिक इतिहास, रीति-रिवाजों, परम्पराओं के प्रति इंदिरा गोस्वामी की विलक्षण अंतर्दृष्टि का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

आत्मकथा:

आधा लेखार दस्तावेज (1988)

इंदिरा गोस्वामी ने अपनी आत्मकथा का नाम 'जिंदगी कोई सौदा नहीं' (आधा लेखार दस्तावेज) रखा था। अमृता प्रीतम ने अपनी मित्र इंदिरा गोस्वामी की आत्मकथा के विषय में लिखती हैं, "Indira's life story may be termed as, 'Life is No Bargain'. It is in fact a testament of Indira's life leading to its metamorphosis."[99] आत्मकथा की भूमिका

में वह लिखती हैं कि इस आत्मकथा में वे अपने जीवन से जुड़े बहुत सारे घटनाक्रमों का उल्लेख नहीं कर पाई हैं। इस आत्मकथा में बचपन से वर्ष 1970 तक के जीवन का लेखा-जोखा प्राप्त होता है। 1970 के पश्चात दिल्ली विश्वविद्यालय में एक अध्यापक के तौर पर उनके जीवन का एक नया अध्याय शुरू हुआ था जिसका उल्लेख उनके आत्मकथात्मक उपन्यास 'तेज आरू धूल धूसरित पृष्ठो' (रक्तरंजित और धूल धूसरित पृष्ठ) में मिलता है। पति माधवन रायसम आयंगर की सड़क दुर्घटना में हुई मृत्यु से आहत इंदिरा गोस्वामी ने प्रसिद्ध असमिया साहित्यकार श्री होमेन बॉरगोहन के कहने पर अपने आत्मकथा लेखन की शुरुआत की थी। आत्मकथा तीन भागों में विभाजित है। पहले भाग का शीर्षक 'जिंदगी कोई सौदा नहीं' है। इस भाग में बचपन में शिलॉग तथा गुवाहाटी के अनुभवों के साथ ही पति माधवन की असमय मृत्यु का जिक्र किया गया है। आत्मकथा के शुरूआती पृष्ठों में वह स्वीकारती हैं कि बचपन से ही वह अवसाद तथा निराशा में रही थीं। इंदिरा गोस्वामी अपने पिता के बेहद करीब थीं। यही वजह थी कि बचपन से उन्हें यह भय था कि यदि पिता की मृत्यु हो गई तो वह इस शोक को सहन नहीं कर पाएंगी। अपनी मनःस्थिति के विषय में इंदिरा गोस्वामी का कहना था, "शिलॉग में रहते वक्त मेरे मन में आत्महत्या की बात गहरी पैठ गई थी। उस कच्ची उम्र में ही प्रियजनों के साथ विच्छेद होने की संभावित कल्पना-मात्र से मेरी अंतरात्मा काँप उठती थी। वह एक अद्भुत यंत्रणा थी। जिसको नाम या परिभाषा देना असम्भव है। उस रहस्यमय भाव से हमेशा लड़ते रहने के बावजूद मैं कभी उससे जीत नहीं पाई।"[100] मानसिक संताप से ग्रस्त इंदिरा गोस्वामी ने 1961 में एक बार आत्महत्या की कोशिश भी की थी। इंदिरा गोस्वामी की माँ का ज्योतिष विद्या पर अथाह विश्वास था। एक ज्योतिषी द्वारा यहाँ तक कहा गया था कि इस लड़की के ग्रह बहुत खराब हैं। इसकी शादी कराने से अच्छा इसके दो टुकड़े कर ब्रह्मपुत्र में बहा देना ज्यादा उचित है। इंदिरा गोस्वामी के विवाह के लिए माँ इतनी चिंतित रहती थीं कि उन्होंने विभिन्न यज्ञ, अनुष्ठान कराए जिससे ज्योतिषियों द्वारा बताया गया कुंडली दोष ठीक हो सके। आत्मकथा के दूसरे भाग का शीर्षक 'अतीत की स्मृतियाँ' है जिसमें उन्होंने गोलपाड़ा के

सैनिक स्कूल में अध्यापन के अनुभव के साथ ही भीषण अवसाद की स्थिति का जिक्र किया है। तीसरे भाग का शीर्षक 'देवभूमि' है जिसमें वृंदावन में शोध से जुड़े अनुभवों के साथ ही विधवाओं की त्रासदियों को भी लिपिबद्ध किया है। इंदिरा गोस्वामी की आत्मकथा के विषय में अरुणि कश्यप लिखते हैं, "After the publication of her autobiography, it has become next to impossible to separate her fiction from her lifr. Both look like two facets of same coin. The woman who had risen like the phoenix: the two suicide attempts she describes in her autobiography are often compared with the depressive streaks that her rebellious and complex self met with. Saudamini's suicide mentioned in 'Nilkanthi Braj' seems to mirror her desires when she lived as a widow in Vrindavan."[101]

दस्ताबेजेर नुतोन पृष्ठ (2007)

आत्मकथा के दूसरे भाग के माध्यम से इंदिरा गोस्वामी ने असम में शांति स्थापित कराने के लिए सरकार तथा उल्फा नेताओं के बीच मध्यस्थ की भूमिका पर विस्तार से प्रकाश डाला है। आत्मकथा के शुरुआती अध्यायों में थाईलैंड और पाकिस्तान के यात्रा-अनुभवों को साझा करने के साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध के कॉन्सेनट्रेशन कैम्प की उत्तरजीवी एक महिला से साक्षात्कार को भी साझा किया गया है। उल्फा नेता परेश बरुआ के साथ संवाद के साथ ही उनकी आत्मकथा का दूसरा भाग पंजाबी साहित्यकार अमृता प्रीतम और इंदिरा गोस्वामी की प्रगाढ़ मैत्री तथा अमृता प्रीतम, इमरोज के संबंधों पर भी प्रकाश डालता है। आत्मकथा के इस भाग में इंदिरा गोस्वामी ने अमृता प्रीतम के मानसिक तनाव के विषय में भी लिखा है। अमृता प्रीतम के उपन्यास 'हरदत्त का जिंदगीनामा' तथा कृष्णा सोबती के उपन्यास 'जिंदगीनामा' के शीर्षक के कॉपीराइट मुद्दे पर काफी विवाद हुआ था। अपनी आत्मकथा में इंदिरा गोस्वामी ने बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य के उपन्यास 'मृत्युंजय' का उदाहरण देते हुए उपरोक्त विवाद में अमृता प्रीतम का पक्ष लिया है। आत्मकथा का

पहला भाग जहाँ उनके मानसिक अवसाद, अंतर्मन के संघर्ष, शोध के अनुभवों इत्यादि पर केंद्रित है वहीं आत्मकथा का दूसरा भाग देश-विदेश के यात्रा-अनुभवों के साथ ही सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में इंदिरा गोस्वामी के व्यक्तित्व को चित्रित करता है। आत्मकथा के दूसरे भाग के संदर्भ में सबरीन अहमद लिखती हैं, "The second autobiography is crucial in understanding the role of Indira Goswami as a socially sensitive individual, looking for source material beyond the conventional vistas of knowledge."[102]

कविता संग्रह: पेन एंड फ्लेश, 2008

इंदिरा गोस्वामी मृत्यु से पहले अपने कुछ काव्य संग्रहों को प्रकाशित कराना चाहती थीं जिससे पाठक उनकी पहचान एक कवि के रूप में भी कर सकें। 'पेन एंड फ्लेश' के प्रकाशन के पूर्व स्वर्गीय वीरेंद्रकुमार भट्टाचार्य के संपादन में भी उनकी एक-दो कविताएं प्रकाशित हो चुकी थीं। काव्यसंग्रह 'पेन एण्ड फ्लेश' की भूमिका में लिखती हैं कि, मैं कवयित्री नहीं हूँ बल्कि उपन्यासकार और कहानीकार हूँ। समय का सदुपयोग करने में लिखी गईं ये कविताएं मेरे फिक्शन लेखन के फुटनोट्स की तरह हैं। "I am not a poet. I am a novelist and a short story writer. These poems were written in my leisure. My poetry is more like footnotes to my fictional writing."[103] इंदिरा गोस्वामी ने यह काव्यसंग्रह, बुकर पुरस्कार विजेता साहित्यकार वी. यस. नायपॉल को समर्पित किया है जिसमें वी. यस. नायपॉल के अतिरिक्त इंदिरा गोस्वामी के मित्र नीलकांत डेका तथा कैकोस बुरजोर सतारावाला को समर्पित कविताएं भी संकलित हैं। हिंदुस्तान और पाकिस्तान की साझी संस्कृति को अभिव्यक्ति करती कविता 'पाकिस्तान' को पाकिस्तान के दैनिक अखबार 'डॉन' द्वारा 11 मई 2003 में प्रकाशित किया गया था। कविता की कुछ पंक्तियाँ निमन्वत हैं।

"Oh Pakistan celestial land!/ Give us your heart!/ And take our heart in return!/Once we shared the same sky!/ Sky with the same sun!/ We shared the same pain like twins on the battlefield/ To remove the dust."[104]

वरिष्ठ साहित्यकार नामवर सिंह इंदिरा गोस्वामी के लेखन में काव्य की भूमिका को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि उनके गद्य को पढ़कर लगता है कि उनके भीतर एक सशक्त कवि छिपा हुआ है जो नए रूपकों और चित्रों के साथ उनकी कहानियों को एक नया अर्थ देता है, "Reading her prose one feels that there is a powerful poet hidden in her who comes up with new metaphors and images to give a new meaning to her stories."[105]

जीवनी: महीयोशी कमला, 1995

'महीयोशी कमला' के माध्यम से इंदिरा गोस्वामी ने संस्कृत भाषा की विदुषी कमला रत्नम के जीवन वृत्त को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। किताबघर प्रकाशन, दिल्ली द्वारा 'महियोशी कमला' का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया गया। अपनी आत्मकथा के दूसरे भाग 'दस्ताबेजेर नुतोन पृष्ठ' के आठवें अध्याय में उन्होंने कमला रत्नम के साथ अपनी मैत्री का विस्तार से वर्णन किया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इंदिरा गोस्वामी की रचनाओं ने देश और काल की सीमा से ऊपर उठ कर संपूर्ण मानव जाति को उसके भीषण यथार्थ से परिचित कराने के साथ-साथ यह आशा भी जगाई है कि एक दूसरे को जोड़ने वाली तथा एक दूसरे का सुख-दुःख समझने वाली संवेदनाएं पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई हैं। इंदिरा गोस्वामी ने असमिया जनजीवन, संस्कृति और परंपरा को अपनी रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत करने के साथ ही देश के दूसरे क्षेत्रों के साथ उसका साहचर्य भी स्थापित किया है। विभिन्न भाषाओं में हुए अनुवादों के माध्यम से

इंदिरा गोस्वामी का रचनाकर्म असम मात्र की साहित्यिक धरोहर होने से ऊपर उठकर भारतीय साहित्य की अमूल्य निधियों में समाहित हो जाता है।

निष्कर्ष-

कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी के जीवन तथा व्यक्तित्व का अध्ययन करने हम पाते हैं कि दोनों ही साहित्यकारों का व्यक्तित्व बहुआयामी तथा प्रतिकूल परिस्थितियों से समझौता न करने वाला रहा है। कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी ने स्त्री लेखक के परिचय के बाहर एक स्वतंत्र लेखक के रूप में अपनी पहचान स्थापित की। कृष्णा सोबती ने स्त्री प्रश्नों पर बात रखने के साथ ही विभाजन की त्रासदी को भी अपनी लेखनी के केंद्र में रखा। विभाजन के दौरान हुई भीषण हिंसा के बावजूद कृष्णा सोबती ने अपने लेखन के माध्यम से दोनों पक्षों के मानवतावादी रूपों को अपनी लेखनी के माध्यम से पाठकों के समक्ष रखा। 'सिक्का बदल गया' 'जिंदगीनामा' तथा 'चन्ना' इत्यादि रचनाएं विभाजन से पूर्व हिंदू-मुस्लिम की साझी संस्कृति को अभिव्यक्त करती हैं। इंदिरा गोस्वामी ने अपने लेखन के माध्यम से हिंसा प्रभावित असम में शांति स्थापित करने का प्रयास किया। 'एक अविस्मरणीय यात्रा' तथा 'जात्रा' ऐसी रचनाएं हैं जो असम में आतंकवाद के मूल कारणों को समझने का प्रयास करती हैं। 1984 के सिख दंगों तथा विभाजन की त्रासदी को भी इंदिरा गोस्वामी ने अपनी लेखनी के माध्यम से चित्रित किया है। हिंदी साहित्य में मित्रो जैसे पात्र का सृजन तथा कामाख्या मंदिर में बलि विधान का विरोध करना क्रमशः कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी के साहसिक लेखन का परिचय देता है।

दोनों साहित्यकारों का जन्म तथा परवरिश तथाकथित उच्च शिक्षित वर्ग में होने के बावजूद दोनों ही साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में समाज के शोषित वर्ग का यथार्थपरक वर्णन किया है। कृष्णा सोबती ने 'डार से बिछुड़ी', 'ए लड़की' तथा 'दिलोंदानिश' इत्यादि रचनाओं के माध्यम से स्त्री की सामाजिक तथा पारिवारिक दोयम स्थिति को चित्रित किया है। इंदिरा गोस्वामी ने धार्मिक

कुरीतियों में जकड़े स्त्री-जीवन को चित्रित करने के साथ ही 'चेनाबेर स्रोत', 'मामरे धरा तारोवाल' तथा 'अहिरण' के माध्यम से सर्वहारा वर्ग के शोषण को चित्रित किया है।

कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी ने अपने-अपने प्रांतों से जुड़े विषयों को चित्रित करने के साथ ही भारत के अन्य भू-भागों को भी अपनी लेखनी के केंद्र में रखा। 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रो मरजानी', 'जिंदगीनामा' तथा 'चन्ना' पंजाब प्रांत की संस्कृति, रहन-सहन, लोकगीत और लोककथाओं की पृष्ठभूमि पर रचा गया है। 'तीन पहाड़', 'सूरजमुखी अँधेरे के' 'समय सरगम' तथा 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' में क्रमशः दार्जिलिंग, शिमला, दिल्ली तथा गुजरात के स्थानीय सौन्दर्य तथा जीवन को चित्रित किया गया है। इंदिरा गोस्वामी के उपन्यासों 'दक्षिणी कामरूप की गाथा', 'छिन्नमस्ता' तथा 'थेंगफाखरीर तहसीलदार की ताँबे की तलवार' की पृष्ठभूमि में पूर्वोत्तर का जीवन है वहीं 'चेनाबेर स्रोत, 'नीलकंठी ब्रज', 'अहिरण', 'मामरे धरा तारोवाल' तथा 'तेज आरु धूलि धूसरित पृष्ठो' के कथानक के आधार में क्रमशः कश्मीर, वृंदावन, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश का रायबरेली जिला तथा दिल्ली हैं।

कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी ने इस तथ्य पर जोर दिया है कि लेखकों को राजनीति से नहीं जुड़ना चाहिए। दोनों ही रचनाकारों ने साहित्य में राजनीति के हस्तक्षेप का विरोध किया है। 2010 में कृष्णा सोबती ने सरकार द्वारा दिया जाने वाला 'पद्म विभूषण' सम्मान लेने से मना कर दिया था। कृष्णा सोबती का कहना था कि लेखक को इस्टैबलिशमेंट से दूर रहना चाहिए। 2015 में संप्रदाय-विरोधी तथा अंधविश्वास विरोधी लेखन के कारण कन्नड़ के विद्वान कलबुर्गी तथा मराठी के विद्वान पंसारे की हत्या कर दी गई थी। इस घटना के प्रतिरोध-स्वरूप कृष्णा सोबती ने साहित्य अकादेमी की 'रत्न सदस्यता पुरस्कार' को भी लौटा दिया था। इंदिरा गोस्वामी ने असम में शांति बहाली के लिए सरकार तथा उल्फा नेताओं में परस्पर संवाद कायम कराने के लिए मध्यस्थ की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संजय हजारिका ने इंदिरा गोस्वामी की प्रशंसा करते हुए लिखा था, "you have done a difficult, sensitive task and what must have been personally a very,

very exhausting and challenging task."[106] स्वयं इंदिरा गोस्वामी का कहना था, "I am not a politician. Neither have I been interested in politics ever in my life. I am simply a writer. I shall remain ever grateful to the Government of India and the ULFA for having honoured me by accepting my appeal for initiating a peace process."[107]

संदर्भ सूची-

[1] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-103

[2] सोबती, कृष्णा (2014), सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ- 406

[3] राठी, गिरिधर (2021), कृष्णा सोबती की जीवनी: दूसरा जीवन, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-61

[4] वही, पृष्ठ- 89

[5] वही, पृष्ठ- 90

[6] सोबती कृष्णा, हम हशमत 1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं.- 253

[7] सोबती कृष्णा, हम हशमत 1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं.- 256

[8] राठी, गिरिधर (2021), कृष्णा सोबती की जीवनी: दूसरा जीवन, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-202

[9] सोबती कृष्णा, हम हशमत 3, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं.- 337

[10] सोबती कृष्णा, हम हशमत 3, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं.- 170

[11] राठी, गिरिधर (2021), कृष्णा सोबती की जीवनी: दूसरा जीवन, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-98

[12] सोबती, कृष्णा (2018), मार्फ़त दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-19

[13] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 16

[14] वही, पृष्ठ- 134

[15] वही, पृष्ठ- 08

[16] सोबती, कृष्णा (2012), हम हशमत-3, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 158

[17] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 09

[18] वही, पृष्ठ-122

[19] जैन, निर्मला (2015), कथा और समय का सच, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-167

[20] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 203

[21] वही, पृष्ठ- 91

[22] वही, पृष्ठ- 100

[23] वही, पृष्ठ- 17

[24] सोबती, कृष्णा (2014), सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ- 410

[25] वही, पृष्ठ- 412

[26] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 88

[27] वही, पृष्ठ- 109

[28] हरिनारायण (संपादक), कथादेश, वर्ष-37, अंक-1, मार्च 2019, पृष्ठ- 06

[29] तर्ज बदलिए-कृष्णा सोबती की कविता,

https://www.shabdankan.com/2016/11/krishna-sobti-tarj-badakiye.html

[30] द इंडियन एक्सप्रेस, साक्षात्कार, 9 फरवरी 2010

[31] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 134

[32] राठी, गिरिधर (2021), कृष्णा सोबती की जीवनी: दूसरा जीवन, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-267

[33] हरिनारायण (संपादक), कथादेश, वर्ष-37, अंक-1, मार्च 2019, पृष्ठ- 8

[34] सोबती, कृष्णा (2018), डार से बिछुरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका

[35] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 161

[36] राठी, गिरिधर (2021), कृष्णा सोबती की जीवनी: दूसरा जीवन, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-139

[37] सोबती, कृष्णा (2023), रचना का गर्भगृह, संकलन एवं संपादन: आर. चेतनक्रांति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 98

[38] सोबती, कृष्णा (2014), सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ- 393

[39] सोबती, कृष्णा (2016), जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 7

[40] जैन, निर्मला (2015), कथा और समय का सच, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 167

[41] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 27

[42] वही, पृष्ठ- 28

[43] जैन, निर्मला (2015), कथा और समय का सच, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 167

[44] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 25

[45] सोबती, कृष्णा (2017), गुजरात पकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 42

[46] राठी, गिरिधर (2021), कृष्णा सोबती की जीवनी: दूसरा जीवन, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 130

[47] सोबती, कृष्णा (2015), शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 351

[48] राठी, गिरिधर (2021), कृष्णा सोबती की जीवनी: दूसरा जीवन, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 162

[49] सोबती, कृष्णा (2017), मुक्तिबोध: एक व्यक्तित्व सही की तलाश में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 09

[50] सिंह, कुमार, राकेश (संपादक), सबद निरंतर, वर्ष-1, अंक-1, (जनवरी-मार्च 2021), पृष्ठ-96

[51] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 155

[52] सोबती, कृष्णा (2014), सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[53] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 10

[54] गोस्वामी, इंदिरा (1997), दक्षिणी कामरूप की गाथा (हिंदी अनुवाद- श्रवण कुमार), साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृष्ठ-264

[55] गोस्वामी, इंदिरा (1999), जिंदगी कोई सौदा नहीं, हिंदी अनुवाद: नीता बनर्जी, हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ-14

[56] वही, पृष्ठ- 82

[57] वही, पृष्ठ- 33

[58] वही, पृष्ठ- 32

[59] वही, पृष्ठ- 49

[60] वही, पृष्ठ- 58

[61] वही, पृष्ठ- 77

[62] वही, पृष्ठ- 61

[63] वही, पृष्ठ- 62

[64] वही, पृष्ठ- 32

[65] वही, पृष्ठ- 63

[66] वही, पृष्ठ- 105

[67] वही, पृष्ठ- 105

[68] वही, पृष्ठ- 111

[69] वही, पृष्ठ - 118

[70] वही, पृष्ठ- 119

[71] वही, पृष्ठ- 130

[72] वही, पृष्ठ - 130

[73] वही, पृष्ठ - 183

[74] वही, पृष्ठ-132

[75] वही, पृष्ठ- 118

[76] वही, पृष्ठ -78

[77] वही, पृष्ठ- 89

[78] वही, पृष्ठ - 183

[79] वही, पृष्ठ - 85

[80] पाठक, नम्रता, शर्मा, दिब्यज्योति (संपा.) (2022), इंदिरा गोस्वामी: मार्जिन्स एण्ड बिऑन्ड, रुतलेज प्रकाशन, न्यूयॉर्क, पृष्ठ-10

[81] वही, पृष्ठ-7

[82] अरुणि कश्यप का आलेख, 'एन अब्डक्शन दैट चेनज़्ड असमीज लिट्रेचर' https://openthemagazine-com.translate.goog/art-culture/an-abduction-that-changed-assamese-literature/?_x_tr_sl=en&_x_tr_tl=hi&_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc

[83] द जर्नी ऑफ ए राइटर: इंदिरा गोस्वामी इन कॉनवरसेशन विद शुभाजित भद्रा, इंडियन लिट्रेचर, वॉल.- 54, (जनवरी-फरवरी 2010), प्रकाशक- साहित्य अकेडमी, https://www.jstor.org/stable/23344202, पृष्ठ- 199

[84] शुक्ल, (प्रो.) विद्याशंकर (संपादक), समन्वय पूर्वोत्तर, अंक-14, (जनवरी-मार्च 2012), पृष्ठ- 8

[85] 30 नवंबर 2011, अमिताभ घोष ब्लॉग, http://amitavghosh.com/blog/?p=1923

[86] गोस्वामी, इंदिरा (1999), जिंदगी कोई सौदा नहीं, हिंदी अनुवाद: नीता बनर्जी, हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ- 63

[87] गोस्वामी, इंदिरा (2010), नीलकंठी ब्रज (हिंदी अनुवाद- दिनेश द्विवेदी), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ- 17

[88] वही, पृष्ठ- 38

[89] सतारावाला, कैकोस, बुरजोर (संकलन) (2002), द सर्च फॉर द सी: द फिक्शनल वर्ल्ड ऑफ इंदिरा गोस्वामी, बी. आर. प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 6

[90] गोस्वामी, इंदिरा (2015), अहिरन (हिंदी अनुवाद- बुद्धदेव चटर्जी), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली पृष्ठ- 08

[91] गोस्वामी, इंदिरा (2015), अहिरन (हिंदी अनुवाद- बुद्धदेव चटर्जी), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली पृष्ठ- 113

[92] बातचीत, इंदिरा गोस्वामी: अर्पण कुमार, samalochan.blogspot.com, 14 नवंबर 2019

[93] बरुआ, मंजीत (संपा.) (2007), इंदिरा गोस्वामी: ए कॉम्पाइलेशन ऑन हर लाइफ, वर्क्स एण्ड अचीवमेंट, बी. आर. प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 91

[94] वही, पृष्ठ- 97

[95] वही, पृष्ठ-50

[96] गोस्वामी, इंदिरा (2002), पेजेज स्टेंड विद ब्लड, अंग्रेजी अनुवाद: प्रदीप आचार्य, कथा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 68

[97] गोस्वामी, इंदिरा (2002), पेजेज स्टेंड विद ब्लड, अंग्रेजी अनुवाद: प्रदीप आचार्य, कथा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 107

[98] द जर्नी ऑफ ए राइटर: इंदिरा गोस्वामी इन कॉनवरसेशन विद शुभाजित भद्रा, इंडियन लिट्रेचर, वॉल.- 54, (जनवरी-फरवरी 2010), प्रकाशक- साहित्य अकेडमी, https://www.jstor.org/stable/23344202, 198

[99] पाठक, नम्रता, शर्मा, दिब्यज्योति (संपा.) (2022), इंदिरा गोस्वामी: मार्जिन्स एण्ड बिऑन्ड, रुतलेज प्रकाशन, न्यूयॉर्क, पृष्ठ- 216

[100] गोस्वामी, इंदिरा (1999), जिंदगी कोई सौदा नहीं, हिंदी अनुवाद: नीता बनर्जी, हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ- 21

[101] पाठक, नम्रता, शर्मा, दिब्यज्योति (संपा.) (2022), इंदिरा गोस्वामी: मार्जिन्स एण्ड बिऑन्ड, रुतलेज प्रकाशन, न्यूयॉर्क, पृष्ठ- 83

[102] वही, पृष्ठ- 218

[103] गोस्वामी, इंदिरा(2007), पेन एण्ड फ्लेश, बी. आर. प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका

[104] गोस्वामी, इंदिरा(2007), पेन एण्ड फ्लेश, बी. आर. प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 41

[105] सतारावाला, कैकोस, बुरजोर (संकलन) (2002), द सर्च फॉर द सी: द फिक्शनल वर्ल्ड ऑफ इंदिरा गोस्वामी, बी. आर. प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 66

[106] पाठक, नम्रता, शर्मा, दिब्यज्योति (संपा.) (2022), इंदिरा गोस्वामी: मार्जिन्स एण्ड बिऑन्ड, रुतलेज प्रकाशन, न्यूयॉर्क, पृष्ठ-258

[107] वही, पृष्ठ- 9